विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ४
अंक १

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—

स्वामी विवेकानन्द, (कोलम्बो में भाषण देते हुए, १५ जनवरी १८९७ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ४] जनवरी - १९६६ - मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

श्रेष्ठ यज्ञ

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात्
ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ
ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

—हे शत्रुतापी ! (द्रव्यों की सहायता से किये जाने-वाले) द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा (ब्रह्माग्नि में जीव-भाव की आहुति रूप) ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! समस्त कर्मों की परिपूर्णता ज्ञान से ही सिद्ध होती है ।

— गीता, ४।३३

उलटा समझ लिया राम

एक समय की बात है। गर्मी के दिन थे—जेठ का महीना। दोपहर का समय। किसी मनुष्य को जरूरी काम से दूसरे गाँव को जाना था। तपती धूप देखकर उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी। उसने पहले कोई सवारी खोजने की कोशिश की। पर उसे न मिली। लाचार होकर वह पैदल निकल पड़ा। दूर का रास्ता था। रास्ते में पेड़ की कोई छाँह भी न थी। वह थक गया—पसीने से लथ-पथ हो गया। इतने में एक अंग्रेज उसके सामने से घोड़ी पर बैठा हुआ निकल गया। रास्ता धूल से भरा था। घोड़ी के चलने से धूल उड़कर चारों ओर छा गयी। वह राही बेदम होकर बैठ गया। जब धूल कुछ साफ हुई, तो राही ने देखा कि घोड़ी गर्भवती है और बड़े कष्ट से चल रही है। अंग्रेज एड़ पर एड़ मारकर उसे ले जा रहा है। राही ने एक लम्बी साँस ली और सोचा--जो हो, पर अंग्रेज तो सुखी है, उसे मेरे समान चलना तो नहीं पड़ रहा है। उसने भगवान से प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभो! यदि मुझे भी तू कहीं से एक घोड़ी दिला देता तो कितना अच्छा था!

ऐसा सोचते हुए राही रास्ते से जा रहा था कि उसके कानों में किसी के पुकारने की आवाज आयी। उसने सिर उठाकर देखा। देखा कि सामने एक नाला है उसके दूसरे पार

वही अंग्रेज खड़ा हुआ उसी को हाथ के इशारे से बुला रहा है। यह देखते ही राही के प्राण सूख गये। वह सोचने लगा—पता नहीं, वह अंग्रेज मुझे क्यों बुला रहा है। धड़कते हृदय से वह अंग्रेज की ओर जाने लगा। अंग्रेज ने डपटकर उसे जल्दी आने के लिए कहा। भय से थर थर काँपता हुआ वह अंग्रेज की ओर भागा और नाला पार कर अंग्रेज के पास आकर उसे झुककर नमस्कार किया। उसने देखा कि घोड़ी जमीन पर पड़ी है और उसने एक बछेड़ी को जन्म दिया है। अंग्रेज और राही दोनों ने मिलकर घोड़ी को उठाया और अंग्रेज हाथों में लगाम थामकर घोड़ी को धीरे धीरे ले जाने लगा। उसने राही को आदेश दिया कि वह बछेड़ो को उठाकर अपने कन्धों पर रख ले और उसके पीछे पीछे आये।

कोई चारा न था। निरुपाय हो राही ने बछेड़ी को कन्धे पर डाल लिया और अंग्रेज के पीछे पीछे चलने लगा। चलते चलते वह ईश्वर को कोसते हुए कहने लगा, "तूने उल्टा समझ लिया, राम! मैंने घोड़ी चढ़ने के लिए माँगी थी, अपने ऊपर चढ़ाने के लिए नहीं!"

तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने छोटे-मोटे स्वार्थ की भी सिद्धि के लिए ईश्वर को साधन बनाना चाहता है और जब उसकी मनोकामना पूरी नहीं होती, तब ईश्वर को कोसने लगता है।

इस कष्टप्रद 'अहं' से कैसे निपटें

श्रीमत् स्वामी निखिलानन्दजी महाराज, न्यूयार्क

हमें इस कष्ट प्रद 'अहं' से कैसे निपटना चाहिए ? यह अहं या 'मैं-भाव' हमारे प्रतिदिन के सामान्य जीवन का आधार है। हमारे विचार, हमारे शब्द और हमारी क्रियाएँ– सब के सब इस अहं के द्वारा बँधे हैं। हम स्वयं से कहते हैं–'मैं पुरुष हूँ', या 'मैं स्त्री हूँ', या 'मैं पति हूँ', या 'मैं पत्नी हूँ', 'मैं हिन्दू हूँ', या 'मैं अमेरिकन हूँ'। बिना इस अहं-भाव के मनुष्य न तो रह सकता है और न कार्य ही कर सकता है। उधर, दूसरी ओर, सारे प्रमुख धर्मों का कहना है कि अहंकार ही आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। ये सभी प्रमुख धर्म इस अहंकार को दबाने या नियंत्रण में लाने के उपाय बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, द्वैतवादी धर्मों को लिजिए जो एक साकार ईश्वर में विश्वास रखते हैं। इन धर्मों के अनुयायी भगवत्प्रेम के द्वारा अपने अहं-भाव को शुद्ध करते हैं और इस प्रकार स्वार्थ-परता, ईर्ष्या, लोभ, घृणा और क्रोध के पाशों से स्वयं को मुक्त करते हैं। अद्वैत वादियों के अनुसार, मनुष्य उस परमात्मा से अभिन्न है। अतः अद्वैतवादी परमात्मा से एकत्व-ज्ञान के द्वारा अपने अहं-भाव को शुद्ध करते हैं। उनके अनुसार, जिसे हम अहंकार कहते हैं, वह परमात्मा के

प्रतिविम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः हमें अपने अहं-भाव को परमात्मा से एकरूप देखना चाहिए। श्रीराम कृष्ण कहते थे, 'परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता के ज्ञान को गाँठ बाँधकर संसार के कर्तव्य कर्म करो।' तात्पर्य यह कि मनुष्य को परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता का ज्ञान कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए।

बौद्ध धर्म किसी स्थायी अहं-भावना में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार यह 'मैं'–'मैं पिता हूँ', 'मैं माता हूँ', 'मैं इस घर का स्वामी हूँ'– केवल संवेदनाओं का पुंजमात्र है। इस क्षण सुख की संवेदना उठती है, इसलिए मैं सुखी हो जाता हूँ और दूसरे क्षण जैसे ही दुःख की भावना जागती है, मैं, दुःखी हो उठता हूँ। अतः बौद्ध धर्म के अनुसार, जिसे हम अहंकार कहते हैं वह संवेदनाओं के पुंज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कहता है, अहंकार के इस सतत परिवर्तनशील स्वभाव को जान लो और गहरे ध्यान में उससे छुटकारा पा लो। देखोगे, संसार तुम्हारे लिए नष्ट हो जायगा। यही निर्वाण की अवस्था कहलाती है।

हमें विश्व के सभी महापुरुष यह बतलाते हैं कि अहंकार ही पाप और दुःख का कारण है। वही स्वार्थपरता, आसक्ति, घृणा, संघर्ष और झगड़ों को जन्म देता है। यह अहंकार मनुष्य को अपने मानव-बन्धुओं से अलग कर देता है तथा भगवान् से उसे दूर हटा देता है। वह जीवात्मा को परमात्मा से विलग कर देता है। इस प्रकार वह बन्धन को जन्म देता है। यह अहंकार ईसाई धर्म में

प्राचीन आदम के रूप में चित्रित हुआ है। उसको नियंत्रण में लाना चाहिए। वेदान्त के अनुसार अहंकार एक घड़ियाल के समान है जो मनुष्य को गले से पकड़ कर संसार-समुद्र में डुबा देता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "इस 'मैं' के मरने से सारा जंजाल दूर हो जायगा।" श्री माँ सारदा देवी ने एक समय कहा था, "मुक्ति या ईश्वर-दर्शन की दो अवस्थाएँ हैं— एक है अहं-भाव का लोप और दूसरा है भगवान् की कृपा।" हम सतत प्रयत्न, अध्यवसाय और विवेक के द्वारा इस अहंभाव का लोप कर सकते हैं और आत्मसमर्पण के सहारे भगवान् की कृपा पा सकते हैं। अहंभाव के लोप करने के इस मानवी प्रयत्न को हम 'आत्मा का आरोहण' कह सकते हैं तथा भगवत्कृपा को 'ईश्वर के अवतरण' की संज्ञा दे सकते हैं। जब आत्मा और ईश्वर का मिलन होता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है।

यह अहं-भाव कैसे उत्पन्न होता है? उसकी उत्पत्ति एक गूढ़ रहस्य है जिसे हमारा सीमित मन नहीं सुलझा सकता। ईसाई धर्म के अनुसार आदिम मनुष्य अहंभाव से रहित था। तब वह ईश्वर का घनिष्ठ साथी था। बाद में ईदन (स्वर्ग) के बगीचे में शैतान के बहकावे में आकर उसने वर्जित वृक्ष के फल को चख लिया। इसका तात्पर्य यह है कि वह सांसारिक ज्ञान के प्रभाव में आ गया। इसके फलस्वरूप आदम को ईश्वर ने दूर हटा दिया और तब से आदम अहंभाव-युक्त हो गया। मनुष्य ने ईश्वर

का बहिष्कार कर दिया। इसीलिए मनुष्य को उड़ाऊ पुत्र कहा जाता है जिसे उसके पिता ने घर से निकाल दिया हो।

वेदान्त के अनुसार, हमारी आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। मनुष्य ईश्वर की एक चिनगारी है। पता नहीं कैसे, उसमें यह दुर्भेद्य अज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिसे ईसाई धर्म में शैतान की संज्ञा दी गयी है और जिसे ईश्वर का विरोधी माना गया है। इस अज्ञान को वेदान्त माया के नाम से पुकारता है। पर वेदान्त के अनुसार, यह शैतान या अज्ञान मनुष्य के भीतर ही है। जब माया का यह पर्दा ईश्वर और आत्मा के बीच आ जाता है, तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप ढक जाता है और ईश्र के साथ मनुष्य का अन्त-रंग सम्बन्ध आवरित हो जाता है। इससे बहुत्व पैदा होता है और तब जीवात्मा अथवा अहंभाव की उत्पत्ति होती है। तब जीवात्मा अपने आप को दूसरी आत्माओं से पृथक् समझने लगता है। यह अहंभाव जो स्वयं को इतर मनुष्यों से तथा ईश्वर से पृथक् समझता है, दुष्ट-अहं या कष्टप्रद-अहं कहलाता है। हम देखेंगे कि इसे किस प्रकार नियंत्रण में लाया जा सकता है।

हम इस अहं की क्रियाओं को समझने का प्रयत्न करेंगे। हर एक व्यक्ति में यह अहं विद्यमान है। वह अपने को शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ एकरूप कर लेता है और इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य जगत् का एक अंग बन जाता है। इस एकरूपता का परिणाम क्या होता है? जब यह अहं या 'मैं' अपने को शरीर से एकरूप कर लेता है तो

क्या होता है? तब वह कहता है—'मैं गोरा आदमी हूँ' 'मैं काला आदमी हूँ', 'मैं धनी हूँ' या 'मैं निर्धन हूँ', 'मैं सुन्दर हूँ' या 'मैं कुरूप हूँ'। तब मनुष्य भौतिक सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। जब यह अहं अपने को इन्द्रियों से एक मानता है, तब व्यक्ति कहता है— 'मैं अन्धा हूँ' या 'मेरी दृष्टि अच्छी है', 'मैं बहरा हूँ' या 'मेरे कान अच्छे हैं', 'मैं लँगड़ा हूँ' या 'मेरे पैर ठीक हैं'। इस प्रकार इन्द्रियों से तद्रूपता अनुभव करने पर यह अहंभाव सुखात्मक अथवा दुःखात्मक संवेदनाओं की अनुभूति करता है। अच्छा, जब वह अपने आप को मन के साथ एक कर लेता है, तब क्या होता है? तब वह सोचता है—'मैं सुखी हूँ' या 'मैं दुःखी हूँ'। यह मन का स्वभाव है। वह सोचता है-- 'मैं उद्विग्न हूँ' या 'मैं हर्षोत्फुल्ल हूँ', 'मैं पापी हूँ' या 'मैं पुण्यवान् हूँ'।

हिन्दू धर्म के अनुसार, पाप और पुण्य दोनों हमारे मन में हैं। यदि कोई पापी मनुष्य, यानी ऐसा मनुष्य जिसमें पापात्मक विचार उठते रहते हैं, आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास करे, तो उसकी ये पापात्मक वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह धर्मात्मा बन जाता है।

यह अहंभाव तीन प्रकार से प्रकट होता है—स्थूल, सूक्ष्म और आध्यात्मिक। स्थूल अहं कहता है—'मैं धनी हूँ। मैं अन्य सभी की अपेक्षा सम्पत्तिशाली हूँ', अथवा 'मैं बली हूँ। मैं शक्तिमान् हूँ। समाज के लिए नियमों का निर्माण मैं करूँगा।' अहं का जो सूक्ष्म रूप है, वह कहता है—'मैं नैतिकतावादी हूँ। मैं विद्वान् हूँ। मैं धर्मात्मा हूँ।

मैं कुलीन हूँ।' अहं का तीसरा रूप आध्यात्मिक या धार्मिक है। इस प्रकार का अहं — वाला व्यक्ति अपने आपको दूसरों से शुचि और पवित्र मानता है। वह चटपट सन्त बन जाना चाहता है और यदि वह अपने ध्यान में असफल हुआ तो नैराश्य का अनुभव करता है।

यह अहंभाव किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। वह पौधों और वृक्षों में सहज प्रेरणा के रूप से अवस्थित है। पौधों और वृक्षों में भी जीवन के प्रति अभिनिवेश है, पर यह अभिनिवेश प्रकृतिगत है, निसर्ग के प्रवाह में है। प्राणियों में भी यह अहंभाव विद्यमान है, पर वहाँ वह आंशिक रूप से ही जागरूक है। एक प्राणी भी खाता और सोता है, प्रजनन करता है तथा अपनी भौतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है। पशु भी अपने रहने का स्थान बनाते हैं और अपने बच्चों का पालन करते हैं। अब मनुष्य में प्रकट होनेवाले अहं की क्रियाओं पर विचार करें। मनुष्य में अहंभाव पूरी तरह जागरूक होता है। वनस्पति में वह नैसर्गिक प्रेरणा के रूप से प्रकट होता है, प्राणियों में वह अर्धजागृत होता है तथा मनुष्य में वह पूरी तरह जाग्रत् रहता है। मनुष्य तर्क करता है, प्रेम करता है, घृणा करता है, वह अपनी वर्तमान सीमितता को जानता है तथा वह अपनी भावी सम्भावनाओं पर विचार करता है। फिर, यह अहंभाव योगी या अतिमानव में भी एक विशेष रूप में विद्यमान रहता है। ध्यान की गहनतम अवस्था में योगी इस अहंभाव को पूरी तरह निरुद्ध कर लेता

है। जब वह समाधि से लौटता है, उसका अहंभाव पुनः क्रियावान् हो जाता है, पर अब उसके अहंभाव में पहले की स्थूलता नहीं रह जाती वह या तो ईश्वर के साक्षात् ज्ञान से अथवा भगवान् के प्रति प्रेम से शुद्ध हो जाता है। जब मनुष्य का अहंभाव ईश्वर के ज्ञान से शुचि-पवित्र हो जाता है, तब वह देखते या सुनते, सोते या खाते हुए भी ऐसा अनुभव करता है कि वह कुछ नहीं कर रहा है। वह जानता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और अनात्म-समुदाय ही यह सारी क्रियाएँ कर रहा है और वह तो नित्य शुद्ध आत्मा है। दूसरी ओर, जब मनुष्य का अहंभाव भगवान् के प्रति प्रेम से शुद्ध होता है तब वह स्वयं को भगवान् के हाथों एक यंत्रमात्र मानने लगता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'मैं तो जगन्माता का पुत्र हूँ।'

अहंभाव वासनाओं को जन्म देता है और ये वासनाएँ मनुष्य के उच्च या निम्न योनि में जन्म लेने का कारण बनती हैं। कर्म का नियम हमारे जन्म को नियंत्रित करता है इमर्सन ने इसे Law of Compensation कहा है—इसके अनुसार, अच्छाई से अच्छाई उत्पन्न होती है और बुराई, बुराई को जन्म देती है। अतएव भली या बुरी कामनाओं वाले मनुष्य को जन्म और मृत्यु के अन्तहीन चक्र में से होकर जाना पड़ता है। उसे कष्ट, बुढ़ापा, पीड़ा और मृत्यु का बारम्बार सामना करना पड़ता है। अन्त में वह समस्त कामनाओं सहित इस अहंकार से छुटकारा पाना चाहता है। इसलिए वह किसी गुरु की खोज कर, उनके मार्ग-

दर्शन में आध्यात्मिक साधनाएँ करना चाहता है, जिससे वह अन्ततोगत्वा अपने अहंकार को नियंत्रित कर ले और इस प्रकार मुक्त हो जाय।

जितने महान् सन्त हुए हैं वे सभी कहते हैं कि मनुष्य का स्वभाव मूलतः दैवी है। भगवद्गीता कहती है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। बाइबिल में लिखा है—'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है'। श्रीरामकृष्ण कहते हैं—'जीव शिव ही है'। वे पुनः कहते हैं—'ईश्वर या मुक्ति का खजाना मनुष्य के भीतर ही है'। खजाने का मतलब है आध्यात्मिक पूर्णता जो मनुष्य के अपने स्वभाव में है। पर इस खजाने की रक्षा तीन दैत्य कर रहे हैं— सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। हमारे सभी कार्य इन तीनों गुणों के द्वारा प्रभावित होते हैं। जो तमोगुण के वश में होता है, वह भ्रमित और दिग्मूढ़ हो जाता है तथा वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लगता है। जिस पर रजोगुण हावी है, वह लोभ, क्रोध, महत्त्वाकांक्षा इत्यादि के वश में हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने आप से कहता है— 'आज मैंने यह लाभ कमाया है। कल और लाभ कमाऊँगा। आज मैंने इस शत्रु को मारा है, कल उस दूसरे शत्रु का नाश करूँगा।' यह सब रजोगुण के लक्षण हैं। फिर, सत्त्वगुण के लक्षण भी हैं। सत्त्वगुण वास्तव में एक प्रकार का आध्यात्मिक अभिमान है। वह दीनता के विपरीत है। मनुष्य यथार्थ रूप से तभी दीन हो सकता है जब वह सभी प्राणियों में ईश्वर को देखता है। जब वह ऊँच

और नीच में, धनी और निर्धन में समान रूपसे ईश्वर की ज्योति को देखता है, तभी वह वास्तव में दीन होता है। आध्यात्मिक अभिमान के वश में होकर मनुष्य कहता है— 'मैंने क्रोध को जीत लिया है, मैंने वासनाओं पर विजय पा ली है, मैंने ईर्ष्या को जीत लिया है, मैंने अपने सभी दोषों पर विजय प्राप्त कर ली है। मैं नैतिक जीवन बिता रहा हूँ।' ऐसा व्यक्ति एक प्रकार के सुख का आस्वादन करता है और वह इस सुख के प्रति इतना आसक्त हो जाता है कि वह उसे नहीं छोड़ना चाहता। वह सुख न देने-वाली बातों से कतराता है। तथापि, यह सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण दोनों से उत्कृष्ट है। वह मुक्ति की झलक प्रदान करता है। वह मुक्ति की ओर ले जाने वाला रास्ता है, किन्तु वह स्वयं मुक्ति नहीं है।

हमारे धर्मशास्त्रों में एक रोचक कथा है। किसी व्यक्ति को मालूम हुआ कि अमुक स्थान पर वृक्ष के नीचे सोने का हंडा गड़ा हुआ है। वह उसकी खोज में निकल पड़ा। जब वह वृक्ष के समीप आया तो उसने देखा की एक भयं-कर दैत्य उस खजाने की रक्षा कर रहा है। दोनों में लड़ाई हुई। जीवन-मृत्यु का फैसला था। अन्त में वह मनुष्य उस दैत्य को मारने में सफल हो गया। वह अपनी इस जीत पर इतना हर्षोत्फुल्ल हो गया कि आनन्द के मारे वृक्ष के चारों ओर वह मत्त होकर नाचने लगा। जीत की खुशी में वह सोने के हंडे की बात एकदम बिसर गया, जिसकी खोज में वह निकला था। इसी प्रकार, जब हम साधना का

अभ्यास करते हैं तो हमारे सामने कई बातें आकर खड़ी हो जाती हैं — भावनाएँ, ईर्ष्या, काम-क्रोध आदि की वृत्तियाँ हमें साधना से पराङ्मुख करना चाहती हैं। हम इन परिस्थितियों पर विजय पाना चाहते हैं और जब हम इसमें सफल हो जाते हैं तो हम खुशी से इतना फूल जाते हैं कि आध्यात्मिक साधनाओं के उद्देश्य — ईश्वर की प्राप्ति — को हम भुला बैठते हैं।

अहंकार के दोषों से हम सभी परिचित हैं। ये दोष अनेक हैं। यह अहंकार भय और संघर्ष को जन्म देता है और हमें दूसरों से विलग कर देता है। हम उपनिषदों में पढ़ते हैं कि जब हम दूसरे को अपने से भिन्न मानते हैं— चाहे वह जो भी हो, हमारा पति हो या पत्नी या मित्र या ईश्वर — तब हम दोनों में एक दूसरे के प्रति भय और संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है। हमारे धर्म ग्रन्थों में एक दृष्टान्त के सहारे इस तथ्य को समझाया गया है। एक दिन एक युवती अपने पति के चरण दबा रही थी। पति सो रहा था। युवती के हाथों में नौ-नौ चूड़ियाँ थीं। पति के पैर दबाते समय उसके हाथ की चूड़ियाँ खनखना उठती थीं और पति की नींद टूट-टूट जाती थी। अतः उसने कलाई की एक चूड़ी फोड़ डाली। पर तब भी पैर दबाते समय चूड़ियों का खनखनाना न रुका। अतः उसने एक एक करके सात चूड़ियाँ फोड़ डालीं। अब केवल दो ही चूड़ियाँ बचीं। पर फिर भी चूड़ियों का खनखन करना बन्द न हुआ। अन्त में उसने और एक चूड़ी को फोड़ डाला जिससे

कलाई में केवल एक ही चूड़ी बच रही। अब कोई घर्षण न था। आवाज शान्त हो गयी।

हिन्दू तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि जब मनुष्य अहंकार से छुटकारा पा लेता है तो उसे भिन्नता का अनुभव नहीं होता और वह दूसरों से किसी बात को गुप्त नहीं रखता। ऐसे व्यक्ति का जीवन गोपनीय नहीं होता। गीता कहती है कि जब तुम अपने में सारे प्राणियों को देखते हो और सारे प्राणियों में अपने को देखते हो, तब तुम समस्त भ्रम, पीड़ा और दुःख के ऊपर उठ जाते हो। अहंकार का ऐसा पूरी तरह लोप हो जाना आत्मज्ञान की अवस्था है और यह आत्मज्ञान निर्भयता, अमरता और आनन्द को जन्म देता है।

अहंकार का एक दोष यह है कि कोई भी व्यक्ति अहंकारी मनुष्य के साथ नहीं रहना चाहता। यह सत्य है कि चाटुकार लोग धनी और सत्तारूढ़ व्यक्ति के इर्दगिर्द लगे रहते हैं, पर वे भी पीठ पीछे इन लोगों की बुराई करते फिरते हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि धन और विद्वत्ता अपने आपमें कोई दोष नहीं है। धन के सहारे तुम निधन लोगों की सहायता कर सकते हो और विद्वत्ता के द्वारा अज्ञानी को मदद पहुँचा सकते हो; पर जब यह धन और विद्वत्ता अहंकार की आग में तपते हैं तो बड़े असहनीय हो उठते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे, जब तुम ठंडे जल से भरे बर्तन में मटर, गाजर, मूली आदि सब्जियों को रखते हो तब तो उन्हें छू सकते हो; पर यदि बर्तन का पानी गरम

कर दिया जाय तो उन्हें तुम नहीं छू सकते। इसी प्रकार, जब हमारी विद्वत्ता, हमारा धन या हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा इस अहंकार की आग में पड़ती है, तो मनुष्य असह्य हो उठता है।

अहंकार का एक दूसरा भी दोष है। वह मनुष्य को अपने धन या सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग नहीं करने देता—वह उसमें बाधक बनता है। अहंकार के कारण वैमनस्य और झगड़े होते हैं और लोग ऐसे अहंकारी व्यक्तियों से दूर रहते हैं। मान लो, तुम्हारे सामने अति स्वादिष्ट भोजन की थाल रखी है। खाते समय तुम्हारे गले में मछली का काँटा अटक जाता है। तुम्हारा भोजन—चाहे कितना भी स्वादिष्ट क्यों न हो, पर अब उसका प्रत्येक कौर तुम्हें असह्य पीड़ा प्रदान करता है। स्वादिष्ट भोजन सामने है सही, पर गले में अटके मछली के काँटे के कारण उसका उपभोग करना अत्यन्त कष्टप्रद होता है। उसी प्रकार, इस अहंकार के कारण मनुष्य अपने धन या सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग नहीं कर पाता, क्योंकि अहंकार औद्धत्य को जन्म देता है।

फिर, हम अपने शास्त्रों में पढ़ते हैं कि अहंकार जीव और भगवत्कृपा के बीच दीवाल बनकर खड़ा हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सुई के छेद में महीन से महीन धागा भी नहीं पिरोया जा सकता यदि धागे के रेशे निकले हुए हों। उसी प्रकार, यदि अहंकार का तनिक भी प्राकट्य हो तो मनुष्य ईश्वर का सान्निध्य नहीं प्राप्त

कर सकता। श्रीरामकृष्ण दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि ईश्वर दो बार हँसते हैं। कोई रोगी मर रहा है और चिकित्सक उसके रोते हुए आत्मीयों से कहता है, 'चिन्ता मत करो। मैं रोगी को बचा दूँगा।' तब ईश्वर पहली बार हँसते हैं। वे कहते हैं, 'मैं तो इस व्यक्ति को मारने जा रहा हूँ और यह मूर्ख डाक्टर कहता है कि मैं उसे बचा लूँगा!' ईश्वर दूसरी बार तब हँसते हैं जब दो भाई हाथ में जमीन नापने को छड़ी लेकर खेत में आते हैं और खेत को नापते हुए एक भाई दूसरे से कहता है, 'यह इतनी जमीन मेरी है, वह उतनी तुम्हारी।' ईश्वर हँसते हैं और कहते हैं, 'सारा संसार तो मेरा है और ये मूर्ख कहते हैं कि यह जमीन मेरी है, वह तुम्हारी!'

निश्चय ही ईश्वर आज हम पर हँस रहे हैं, जब बड़ी बड़ी शक्तियाँ विश्व को विभाजित करने का प्रयत्न कर रही हैं। ये शक्तियाँ कहती हैं, 'यह पूर्व है और यह पश्चिम है।' पूर्वी शक्ति कहती है, 'ओ पश्चिमी ताकतो! तुम हमारी जमीन पर पैर नहीं धर सकते।' और पश्चिमी शक्ति कहती है, 'यह हमारा महाद्वीप है, हम दूसरे किसी को भी यहाँ आने न देंगे।' ईश्वर हँसते हैं और कहते हैं, 'यह विश्व तो मेरा है और ये मूर्ख कहते हैं कि यह भाग मेरा है और वह तुम्हारा!' यदि इस मूर्खता को पनपने दिया गया तो क्या होगा?—भयंकर नाश! जब हम अपने अहंकार को इतनी अधिक महत्ता देने लगते हैं तो ईश्वर हमें सहायता नहीं देते।

एक समय वैकुण्ठ में लक्ष्मी और नारायण बैठे हुए थे कि नारायण अचानक उठ खड़े हुए। लक्ष्मी नारायण के चरण दबा रही थीं। उन्होंने पूछा, 'भगवन्! आप कहाँ चले?' नारायण ने उत्तर दिया, 'मेरे एक भक्त पर बड़ी मुसीबत आ पड़ी है। मुझे उसकी रक्षा करनी चाहिए।' ऐसा कहकर वे चले गये। पर क्षण भर बाद ही वे लौट आये। लक्ष्मी ने कहा, 'भगवन्, आप इतनी जल्दी कैसे लौट आये?' नारायण मुसकराते हुए बोले, 'भक्त मेरे प्रेम में विभोर होकर रास्ते से जा रहा था। धोबियों ने कपड़े धोकर उन्हें सूखने के लिए घास पर डाल दिया था। भक्त उन कपड़ों पर पैर रखता हुआ चला गया। इस पर धोबियों ने उसका पीछा किया और लाठियों से वे उसे पीटने ही वाले थे। इसीलिए मैं उसे बचाने दौड़ गया था।' 'पर भगवन्! आप लौट क्यों आये?' लक्ष्मी ने पूछा। नारायण हँसते हुए बोले, 'मैंने देखा कि भक्त अपना बचाव करने के लिए ईंट का टुकड़ा उठा रहा है। इसलिए मैं लौट आया।' मतलब यह कि अहंकार भगवत्कृपा, भगवत्प्रेम और हमारे अपने बीच में एक बाधक तत्त्व है। भक्ति का जल अहंकार की इस दीवाल को गिरा देता है। ईश्वर आत्मसमर्पण चाहते हैं।

ईश्वर पर निर्भरता के दो प्रकार हैं। एक है बन्दर के बच्चे की अपनी माँ पर निर्भरता और दूसरा है बिल्ली के बच्चे की अपनी माँ पर निर्भरता। बन्दर का बच्चा अपनी माँ को अपने हाथों से जकड़े रहना है। जब बन्दरिया एक

पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदती है तो उस पर से उसके बच्चे का हाथ छूट जाता है और वह गिर पड़ता है। पर बिल्ली अपने बच्चे को उठाकर जहाँ चाहती है वहीं रखती है—कभी फर्श पर तो कभी बिस्तर पर, और उसका बच्चा उसी में सन्तुष्ट है—जहाँ भी बिल्ली उसे रख दे। वह अपनी माँ के पास पूरी तरह स्वयं को समर्पित कर देता है।

फिर, अहंकार का एक प्रकार और है, उसे दलीय अहंकार कहते हैं। कुछ धार्मिक दल बड़े अनर्थकारी होते हैं और ऐसे दलीय अहंकार से घृणा और झगड़ों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त, एक अन्तर्राष्ट्रीय अहं-कार है जिसके प्रति आज हम अनावश्यक रूप से सजग हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का वही प्रमुख कारण है। अन्य राष्ट्रों को क्षति पहुँचाकर अपने राष्ट्र के स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति के रूप में यह अन्तर्राष्ट्रीय अहंकार प्रकट होता है। इस भय से कि कहीं उनके आत्मसम्मान पर चोट न पहुँचे, दो राष्ट्र समझौते के लिए तैयार नहीं होते। इस प्रकार हम अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाते ही चले जाते हैं, और सैनिक शक्ति जितनी बढ़ती है, राष्ट्र की असुरक्षा भी उतनी ही बढ़ती जाती है।

अब प्रश्न यह है कि इस कष्टप्रद अहंकार को नियं-त्रित कैसे करें। इसके तीन उपाय हैं--(१) उसके अस्तित्व को स्वीकार न करो, (२) उसका विस्तार करो, या (३) उसे संकुचित करो। अहंकार के अस्तित्व को स्वीकार न करने का तात्पर्य क्या है? मैं पहले ही अहंकार सम्बन्धी

बौद्ध-धारणा का उल्लेख कर चुका हूँ। बुद्ध ने हमें सिखाया कि इस संसार में अथवा इस अहंकार में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो नित्य हो। हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह सबका सब क्षणिक संवेदनाएँ मात्र होता है। यह अहंकार संवेदनाओं के पुंज के सिवाय और कुछ नहीं है। एक भौतिक पदार्थ भी संवेदनाओं का पुंज मात्र है। उसके पीछे कोई नित्य द्रव्य नहीं है। यह विशेष पदार्थ किन लक्षणों से युक्त है? वह ठोस है, वह भूरा है, उसके एक नाम है। उसकी और भी विशेषताएँ हैं, पर वह द्रव्य है कहाँ? यदि तुम उसकी उन समस्त विशेषताओं को निकाल दो जिनकी चर्चा हमने अभी की, तो क्या बच रहेगा?—कुछ भी नहीं। बौद्ध साहित्य में एक कथा है। कोई राजा एक महात्मा के दर्शन करने गया। महात्मा ने राजा से पूछा, 'तुम राजमहल से यहाँ तक कैसे आये?' राजा बोला, 'क्यों भला? मैं रथ में जो आया हूँ।' इस पर महात्मा ने मुसकरा कर पूछा, 'यह रथ है क्या चीज?' राजा ने कहा, 'वह रहा रथ, बाहर में। मैं उसमें आया और उसी में लौटूँगा।' इस पर महात्मा बोले, 'जिसे तुम रथ कहते हो, उसमें चक्के लगे हैं। तो क्या चक्के ही रथ हैं?' राजा ने कहा, 'नहीं।' 'तो क्या वह चँदोवा रथ है?' राजा बोला, 'नहीं।' 'रथ में एक सिंहासन है। क्या वह सिंहासन रथ है?' राजा ने पुनः कहा, 'नहीं।' तो क्या वे घोड़े रथ हैं?' 'या वह जुआ?' 'या वह धुरी?' हर एक बार राजा ने उत्तर दिया, 'नहीं।' तब महात्मा ने कहा, 'तुम तो "मेरा" रथ कह रहे हो। वह तुम्हारा रथ आखिर है क्या?' राजा निरुत्तर हो गया।

अन्त में महात्मा बोले, 'जो कुछ तुमने वर्णन किया है, सभी रथ से भिन्न चीजें हैं।' इसी प्रकार, बौद्ध दर्शन कहता है कि हम जो कुछ अपने भीतर और अपने बाहर देखते हैं, वह संवेदनाओं के पुंज के अलावा और कुछ नहीं है; हमारे अहंकार में अथवा बाहरी संसार में कोई नित्य द्रव्य नहीं है।

एक लौ का उदाहरण दिया जाता है। हम एक निष्कम्प लौ देखते हैं, पर वह है क्या? तेल से बाती के माध्यम से एक के बाद एक आनेवाली चिनगारियाँ उस लौ का निर्माण करती हैं; प्रत्येक चिनगारी फूटती है और गायब हो जाती है, उसके बाद दूसरी चिनगारी आती है। अतः जो तुम देखते हो वह असल में चिनगारियों का क्रम है। लौ नाम की कोई चीज नहीं है। बर्गसाँ भी कहते हैं कि तुम उसी नदी में दो बार पैर नहीं धर सकते, क्योंकि नदी सतत परिवर्तनशील है। सुकरात पूछते हैं, 'यह "मेरा" अथवा "मैं" है कहाँ?' वे कहते हैं, 'मुझे पकड़ो तो सही!' श्रीरामकृष्ण कहते हैं, 'प्याज है कहाँ?' वह तो छिलकों का एक स्तर मात्र है। छिलकों को एक एक करके निकालने पर अन्त में कुछ बचा नहीं रहता। इसी प्रकार, यदि तुम अपना विश्लेषण करो तो देखोगे कि 'मैं' नाम की कोईचीज नहीं है, कोई नित्य अहं-भाव नहीं है। अतः यदि तुम अहं का भाव उठानेवाले इन आवेगों को दबा सको, यदि तुम एक आवेग का सम्बन्ध दूसरे आवेग से न करो, तो तुम बुद्ध-मन की अवस्था प्राप्त कर लोगे। यह अवस्था विक्षेपों

से सर्वथा मुक्त और निरुद्विग्न है। मन को निरुद्विग्न बनाकर ही तुम मानवजाति को सेवा कर सकते हो। यह इस कष्टप्रद अहं से निपटने का एक उपाय है — उसके अस्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार कर देना।

दूसरा उपाय है—अहंभाव का विस्तार करना, अपने क्षुद्र व्यक्तित्व की सीमाओं को तोड़ देना। तुम्हारे और मेरे बीच कौन सी चीज आड़े आती है? मेरी समाप्ति और तुम्हारा प्रारम्भ कहाँ होता है? प्रतिक्षण हम दोनों में आदान-प्रदान चला हुआ है। यहाँ तक कि हममें और भौतिक कणों में यह आदान-प्रदान की क्रिया सतत चली हुई है। प्रत्येक क्षण हममें से कण बाहर जा रहे हैं और नये कण हमारे भीतर आ रहे हैं। इस आड़ को, इस बाधा को तोड़ डालो और सीमितता से विलग हो जाओ। यदि तुम अहंभाव का विस्तार करना चाहते हो तो सदैव कहते रहो, 'सोऽहमस्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। अपने को सबमें और सबको अपने में देखो। तब मृत्यु का भय नहीं रह जायगा। जब तक इस विश्व में क्षुद्र से क्षुद्रतम कीड़ा भी जीवित है, तब तक तुम जीवित हो। जब तक दूसरा कोई व्यक्ति खा रहा है, तुम खा रहे हो। यह अवस्था अवश्य बड़ी कठिन है, पर ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने उसकी प्राप्ति की है।

एक महात्मा ने हमें एक कहानी बतलायी थी। एक दिन वे नित्य नियमानुसार भिक्षा के लिए बाहर निकले। कुछ कारणवश, उन्हें देर हो गयी थी। लोग भोजन कर

चुके थे अतः उन्हें भिक्षा न मिली। भूख और थकावट से चूर होकर वे एक झाड़ी में घुसकर लेट गये। वहाँ लेटे लेटे उन्हें कुछ श्लोक स्मरण हो आये और वे उनकी आवृत्ति करने लगे। श्लोकों का भाव यह था—'आकाश मेरा मस्तक है। चन्द्र और सूर्य मेरी आँखें हैं। यह चराचर विश्व मेरा शरीर है।' अकस्मात् वे अनुभव करने लगे कि उनका अहंभाव अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हो रहा है। उनकी भूख प्यास गायब हो गयी। वे सबमें अपना विस्तार अनुभव करने लगे थे। पर यह कठिन बात है।

अन्त में, वह तीसरा उपाय है—अहं का संकोच करना। यह अपेक्षाकृत सरल है। श्रीरामकृष्ण के दो महान् शिष्य थे। एक थे स्वामी विवेकानन्द, ये अत्यन्त कर्मप्रवण, साहसिक और पुरुषार्थी थे। और सबसे अभिन्नत्व की अनुभूति करते थे। दूसरे थे साधु नाग महाशय, जो स्वयं को तुच्छातितुच्छ समझते थे। वे दूसरों के सामने अत्यन्त संकुचित हो उठते थे। कहा जाता है कि माया महत् या क्षुद्र को अपने पाशों में नहीं बाँध सकती। जब माया स्वामी विवेकानन्द को बाँधने के लिए आयी, तो उन्होंने अपने अहं का ऐसा विस्तार किया कि माया की डोर छोटी पड़ गयी। और जब वह साधु नाग महाशय को बाँधने गयी तो उन्होंने अपने आपको इतना छोटा बना लिया कि गाँठ में से निकल आये। माया जितना भी गाँठ कसती, नाग महाशय उतना ही अपने अहं का संकोच कर गाँठ में से निकल जाते। इस प्रकार वे भी माया के पाश में न बँधे।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अहं का संकोच कैसे किया जाय? हमें सदैव यह अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिए—'मैं नहीं, तू'। हमें अपने तईं कहना चाहिए, 'मैं प्रभु का दास हूँ। मैं उनके हाथों यंत्र हूँ।' इस प्रकार हम अपने आपको अहं के पाश से मुक्त कर ले सकेंगे और ईश्वर की इच्छा के प्राकट्य के लिए यंत्रस्वरूप बन जायेंगे। यदि हम सच्चे अर्थों में स्वयं को ईश्वर का यंत्र समझें, तो ईश्वर हमारे माध्यम से महत् कार्य सम्पन्न करेंगे। इसीलिए श्रीरामकृष्ण जगन्माता को सम्बोधित करके कहा करते थे, 'मैं घर हूँ, तुम घरणी हो। मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री हो। तुम जैसा कराती हो, मैं वैसा करता हूँ। तुम जैसा कहलाती हो, वैसा कहता हूँ। मैं नहीं, तुम।' ईसा ने कहा है, 'शुद्ध हृदय के व्यक्ति धन्य हैं,' दीन व्यक्ति धन्य हैं।' यहाँ ईसा का मतलब यह नहीं कि हम कायर और डरपोक बन जायें। वे हमें सच्चे अर्थों में दीन बनने का उपदेश दे रहे हैं। सच्ची दीनता तभी आती है जब हम ऊँच और नीच में, धनी और निर्धन सबमें उसी ईश्वर को देखते हैं।

श्रीरामकृष्ण कहते थे—अहं के दो प्रकार हैं। एक है विद्या का अहं और दूसरा है अविद्या का अहं। जब हममें विद्या का अहं उठता है तब हम अनुभव करते हैं—'मैं ईश्वर की सन्तान हूँ', या 'मैं ईश्वर से एक हूँ'। किन्तु जब हममें अविद्या का अहंकार उठता है तब हम कहते हैं, 'मैं कर्ता हूँ। मैं स्वामी हूँ। मैं व्यवस्थापक हूँ',—आदि आदि। यह अज्ञान का परिणाम है। अतएव अविद्या के अहं को 'कच्चा अहं' कह सकते हैं और विद्या के अहं को 'पक्का

अहं'। जब आम और बेर कच्चे रहते हैं तो खट्टे होते हैं, पर जब वे पक जाते हैं तो मीठे और स्वादिष्ट हो जाते हैं। अतः हम अपने कच्चे अहं को पक्का अहं बनाने का प्रयत्न करें। जब तक हम अहंभाव से मुक्त नहीं होते तब तक वह रहे न, पर वह प्रभु का दास बनकर रहे, जीवों का सेवक बनकर रहे। ऐसा अहंकार हमें क्षति नहीं पहुँचाएगा। अहं का रूप मात्र उसमें होता है। विवेक करते ही वह रूप भी नष्ट हो जाता है। वह मानों जली हुई रस्सी के समान है। रस्सी का आकार दिखाई तो देता है पर उसे छूने ही राख गायब हो जाती है। अथवा वह उस तलवार के समान है जो पारस से छूकर सोने की बन गयी हो। सोने की बन जाने पर भी उसका आकार तलवार का ही बना रहता है, पर अब उससे किसी को चोट नहीं पहुँचायी जा सकती। अथवा 'पक्का अहं' भुने बीज के समान है। भुना बीज भी आकार में बीज तो है, पर वह वृक्ष को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार, जब हमारा अहं पक जाता है, शुद्ध और संस्कारित हो जाता है, तो उस अहं से जन्म-मृत्यु के अविराम प्रवाह से उपजनेवाले सुख-दुखों का स्पर्श नहीं हो पाता। ऐसे अहं से मनुष्य की सेवा की जा सकती है, समाज का कल्याण किया जा सकता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं कृतकृत्य होकर समाज को भी कृतार्थ करता है। पक्का अहं वाला व्यक्ति जब शरीर को छोड़ता है, तो वह ईश्वर से नित्यसंयुक्त हो परम शान्ति और आनन्द को प्राप्त हो जाता है।

—'वेदान्त केसरी' से साभार।

नंदन कानन, बना मरुस्थल, तुमको पाकर

(श्रीकृष्ण कुमार त्रिवेदी, एम० एस-सी०, अकलतरा)

स्वार्थ और भौतिकता का नारा बुलंद था।
मीज रहा था हाथ धर्म; जग निरानंद था।
विकल, विवश था देश, बँधा दासता फंद में।
वेदपाठ करने वाला स्वर हुआ मंद था॥

काट दिया घन अंधकार तब तुमने आकर।
नंदन-कानन, बना मरुस्थल, तुमको पाकर।
दलित दीन सब पुलक उठे पा नेह तुम्हारा।
जीता निष्प्रभ धर्म, तुम्हारा संबल पाकर॥

स्वामी योगानन्द

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

श्रीरामकृष्णदेव अपने कुछ बाल-भक्तों को ईश्वरकोटि कहा करते थे। स्वामीयोगानन्द इनमें से एक थे। स्वामी योगानन्द के व्यक्तित्व में विरोधी-भावों का विकास हुआ था। श्रीरामकृष्णदेव के अन्य किसी शिष्य के जीवन में प्रतिलोम-भावों का ऐसा समुच्चय नहीं मिलता। एक ओर तो वे महान् विनम्र, संकोची और दयालु थे किन्तु दूसरी ओर वे निर्मम तार्किक, घोर संदेही और तीक्ष्ण आलोचक भी थे। उनके विरोधी-गुणों के माध्यम में जहाँ श्रीराम-कृष्णदेव के अनेक महान् गुणों का ज्ञान होता है वहाँ दूसरी ओर उनकी अद्भुत् शिक्षा-प्रणाली का भी पता चलता है।

स्वामी योगानन्द का पूर्व नाम योगीन्द्रनाथ चौधरी था। उनके पिता श्रीयुत् नवीनचन्द्र चौधरी कट्टर ब्राह्मण थे और क्रिया-अनुष्ठानों के बड़े हिमायती थे। उनका घर दक्षिणेश्वर के पास ही था। बालक योगीन्द्र रानी रासमणि के बगीचे में यदा-कदा जाया करते थे। इसी उद्यान में उन्हें श्रीरामकृष्णदेव का प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ था। श्रीरामकृष्णदेव फुलवारी में टहल रहे थे। बालक योगीन्द्र पूजा के लिये फूल चुनने के लिये वहाँ आये। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को माली समझकर उनसे फूल चुन देने

का अनुरोध किया। इससे पहले यद्यपि वे श्रीरामकृष्णदेव को देख नहीं सके थे किन्तु ब्राह्मसमाज के साहित्य में उनका नाम वे पढ़ चुके थे। पर उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से मिलने का प्रयत्न नहीं किया था। सम्भवतः भद्र लोगों की संस्कृति-में पलने के कारण वे उनसे मिलने में संकोच का अनुभव करते थे। इस घटना के बाद जब वे दक्षिणेश्वर गये तब उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव भक्त-वृन्दों के साथ धर्म-चर्चा कर रहे हैं। वहीं उन्हें मालूम हुआ कि उन्होंने जिन्हें पहली नजर में माली समझा था वे ही श्रीरामकृष्णदेव हैं, जिनके सम्बन्ध में ब्राह्मसमाजियों की बड़ी ऊँची धारणा है।

श्रीरामकृष्णदेव सदैव लोकोत्तर भूमिका पर प्रतिष्ठित रहा करते थे। फलतः सांसारिक बातों की ओर उनका ध्यान नहीं जा पाता था। उनके देवदुर्लभ आचरण को समझने की क्षमता विरले व्यक्तियों में ही थी। अधिकांशतः लोग उन्हें पागल ब्राह्मण कहा करते थे। योगीन्द्र में धर्म-प्रवण एवं नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार का संस्कार भरा हुआ था। वे सोचते थे कि श्रीरामकृष्णदेव से खुलकर मिलने-जुलने से लोग उनकी हँसी उड़ायेंगे। इसीलिये वे श्रीरामकृष्णदेव से चोरी-छिपे मिला करते थे। श्रीरामकृष्णदेव अद्भुत आकर्षण और दैवी प्रेम की मूर्ति थे। योगीन्द्र उनकी चुम्ब-कीय शक्ति से कैसे बच सकते थे?

योगीन्द्र को देखते ही श्रीरामकृष्णदेव ने उनकी आध्यात्मिक संभावनाओं को जान लिया था। वे अब उन्हें आध्यात्मिक शिक्षा प्रदानकर रहे थे। धीरे-धीरे योगीन्द्र का

संकोच मिटता गया और वे श्रीरामकृष्णदेव के पास स्वच्छं-दता से आने-जाने लगे। जब उनके मित्रों को इस बात का पता चला तब उन्होंने उनका काफी उपहास किया। किन्तु योगीन्द्र का मन अब एक ऐसे धरातल पर जम रहा था। जहाँ पहुँचकर सांसारिकता की चिन्ता नहीं सालती। वे पढ़ाई में अपना मन नहीं लगा सके। यह सब देखकर उनके परि-जन यद्यपि चिन्तित हो गये थे किन्तु उन्होंने उनके पथ पर कोई बाधा नहीं डाली।

योगीन्द्र ने अध्यन की उपेक्षा तो कर दी थी किन्तु वे जीविकोपार्जन की उपेक्षा नहीं कर सके। उनका परिवार एक समय तो सम्पन्न था पर अब उसकी आर्थिक अवस्था ठीक नहीं थी। नौकरी की तलाश में वे कानपुर भेजे गये। कानपुर में उनके चाचा रहते थे। वहाँ पहुँचकर उनकी आध्यात्मिक पिपासा पुनः तीव्र हो गई। योगीन्द्र बाल्या-वस्था। से ही अन्तर्मुखी थे। अपने साथियों के साथ खेलते खेलते वे सहसा ध्यानमग्न हो जाया करते थे। वे सोचा करते थे कि वे इस लोक के प्राणी नहीं हैं। वे किसी दूसरे लोक से यहाँ कोई विशेष कार्य करने के लिये आये हैं। कानपुर में वे पूरी तरह से एकान्तवासी हो गये तथा ध्यान और जप में लीन हो गये। उनमें अन्तर्मुखता इतनी बढ़ गयी कि वे प्रायः मूक रहने लगे। उनके चाचा यह देखकर बड़े भयभीत हुए कि कहीं योगीन्द्र पागल न हो जाये। इसलिये उन्होंने उनके पिता को योगीन्द्र का विवाह कर देने के लिये पत्र लिख दिया। योगीन्द्र को इस योजना

का पता नहीं था। अचानक एक दिन योगीन्द्र के पिता का पत्र आया। उसमें माता की बीमारी का हवाला देकर उन्हें शीघ्र घर आने के लिये लिखा था। योगीन्द्र तत्काल कलकत्ता के लिये रवाना हो गये। घर पर सभी चंगे थे। वहाँ योगीन्द्र के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं।

योगीन्द्र इस नयी परिस्थिति में पड़कर जड़वत् हो गये। उनका विवाह कर दिया गया। असल में, वे अतिशय विनम्र थे। उनमें अपने परिजनों का विरोध करने का साहस नहीं था। इसके अतिरिक्त वे अपनी माता से बहुत स्नेह करते थे तथा विरोध करके उनके हृदय को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। यद्यपि दबाव में पड़कर उन्होंने विवाह कर लिया था किन्तु उनके मन में संसार के प्रति तनिक भी अनुराग नहीं था। इसलिये विवाह उन्हें विषयों की ओर नहीं खींच सका। पर वे अब चिन्तामग्न रहने लगे। ब्रह्मचारी जीवन बिताने की इच्छा धूल में मिल गयी थी। इस बात की पीड़ा उन्हें हमेशा होती रहती थी। वे यह भी समझने लगे थे कि अब वे श्रीरामकृष्णदेव को मुँह दिखाने के काबिल नहीं रहे हैं क्योंकि विवाह करके उन्होंने उनकी आशाओं को निर्मूल कर दिया है।

श्रीरामकृष्णदेव योगीन्द्र की मनःस्थिति को जानते थे। उन्हें सांत्वना प्रदान करने के लिये उन्होंने अनेक बार उन्हें बुलाया था। किन्तु योगीन्द्र विवाह कर लेने के कारण इतने लज्जित हो गये थे कि वे श्रीरामकृष्णदेव के पास नहीं जा सके। अन्त में उन्हें बुलाने के लिये श्रीरामकृष्णदेव ने

एक कौतुक रचा। उन्होंने योगीन्द्र के एक मित्र से कहा, "देखो तो, योगीन्द्र यहाँ से कुछ रुपये ले गया था पर अब तक न तो उसने रुपये वापस किये हैं और न उसका कोई हिसाब ही दिया है।" योगीन्द्र यह सुनकर बड़े दुःखी हुए उन्होंने समझा कि श्रीरामकृष्णदेव भी उनके मन की हालत नहीं समझ रहे हैं। वे मंदिर के एक कर्मचारी से कुछ सामान लाने के लिए रूपये ले गये थे। उसमें से कुछ रुपया वापस करना बाकी था। जबसे उनका विवाह हुआ था तबसे वे दक्षिणेश्वर लज्जा के कारण नहीं जा सके थे। श्रीरामकृष्णदेव की बात सुनकर उन्होंने आखिरी बार दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया।

जब योगीन्द्र दक्षिणेश्वर पहुँचे तब श्रीरामकृष्णदेव अपने कमरे में ही थे। वे अपनी चौकी पर बैठकर भक्तों के साथ वार्तालाप कर रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव योगीन्द्र को देखकर अत्यन्त आनंदित हुए। उन्होंने लपककर योगीन्द्र का स्वागत किया। उन्होंने योगीन्द्र को अपने समीप खींचते हुए कहा, "अरे! इसमें चिन्ता की क्या बात है? विवाह करके तुमने कोई पाप नहीं किया है। विवाह तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन में बिलकुल बाधक नहीं बनेगा। यदि प्रभु की कृपा हो तो हजारों विवाह भी तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को नहीं रोक सकते।" श्रीराम-कृष्णदेव की अमृतमयी वाणी को सुनकर योगीन्द्र का सारा विषाद जाता रहा। उनकी आँखों के सामने हताशा के जो काले-काले बादल छाये हुए थे वे श्रीरामकृष्णदेव के

कृपा-प्रभंजन से एकबारगी छिन्न-भिन्न हो गये। श्रीरामकृष्णदेव के वचनों से उन्हें नया आलोक, नयी आशा और अभिनव उत्साह मिला। अनेक बार संकेत करने पर भी जब श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे रुपये-पैसे की कोई बात नहीं की तब वे समझ गये कि उन्हें दक्षिणेश्वर बुलाने के लिये ही श्रीरामकृष्णदेव ने यह युक्ति की थी। इस घटना के पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव के प्रति योगीन्द्र की श्रद्धा-भक्ति बढ़ गयी और वे अपना अधिकाधिक समय उनके पुनीत साहचर्य में बिताने लगे।

अध्यात्म का पथ फूलों की सेज नहीं है। वह काँटों से भरा हुआ मार्ग है। बिरले साधक ही इस राह पर चल सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से योगीन्द्र के हृदय में आध्यात्मिकता का नया उन्मेष हुआ था। इसके साथ ही नयी बाधाएँ भी खड़ी हो रही थीं। योगीन्द्र को संसार के प्रति विरक्त देखकर उनके परिवार के लोग काफी चिन्तित हो उठे थे। परिजन उन्हें लगातार उलाहना देते रहते थे। एक दिन जब उनकी माता ने उन्हें निकम्मा कहा, तब उनका रहा-सहा मोहपाश भी जाता रहा। वे समझ गये कि संसार के सभी लोगों का प्रेम स्वार्थ पर टिका रहता है। उन्हें यह अनुभूति भी हुई कि श्रीरामकृष्णदेव ही उनसे अहैतुकी प्रेम करते हैं और वे ही उनके एकमात्र शुभचिंतक हैं। अब योगीन्द्र श्रीरामकृष्णदेव के प्रति पूरी तरह से समर्पित हो गये।

योगीन्द्र का स्वभाव बड़ा कोमल था। वे कीड़े-मकोड़ों

को भी नुकसान नहीं पहुँचा सकते थे। उनका यह गुण अवगुण की सीमा तक पहुँच गया था। श्रीरामकृष्णदेव ने अनेक अवसरों पर अपने शिष्य के इस अवगुण को निकालने की युक्ति की थी। एक बार श्रीरामकृष्णदेव के कपड़े पर एक कीड़ा चल रहा था। उन्होंने योगीन्द्र से कहा कि वे उस कपड़े को बाहर लेजाकर कीड़े को मार दें। योगीन्द्र ने कपड़े से कीड़े को निकाल तो दिया पर वे उसे मार नहीं सके। कमरे में लौटने पर जब श्रीरामकृष्ण-देव ने उनसे पूछा कि क्या कीड़े को उन्होंने मार दिया तब उन्होंने नकारात्मक उत्तर दिया। इसपर श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें ताड़ना दी और कहा कि गुरु-आदेश का सदैव पालन करना चाहिये अन्यथा अकल्याण होगा।

योगीन्द्र एक दिन नाव से दक्षिणेश्वर लौट रहे थे। उनके साथ का एक यात्री श्रीरामकृष्ण देव को आलोचना कर रहा था कि वे ढोंगी हैं। योगीन्द्र बिना किसी विरोध के उनकी बातें सुनते जा रहे थे। वे सोच रहे थे कि श्रीराम-कृष्णदेव इन समस्त आलोचनाओं से परे हैं अतः उनके सम्बन्ध में विरोध कर झगड़ा करना ठीक नहीं है। दक्षि-णेश्वर पहुँचकर उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को सारा हाल कह सुनाया। उन्हें आशा थी कि श्रीरामकृष्णदेव उनके व्यवहार का अनुमोदन कर उन्हें शाबासी देंगे। किन्तु उनकी आशा के विपरीत श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें झिड़-कते हुए कहा, "छिः छिः" यह भला तेरा कैसा व्यवहार है? शिष्य को बिना कोई विरोध किये गुरु की निंदा नहीं

सुननी चाहिये। यदि उसमें विरोध करने का साहस न हो तो उसे तत्काल वह स्थान छोड़ देना चाहिये।"

इसीप्रकार की एक और घटना घटी। एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें मिट्टी का बर्तन खरीदने के लिये बाजार भेजा। उन्होंने हिदायत दी थी कि अच्छी तरह देखकर वे बर्तन खरीदें। बाजार में एक दूकानदार चंदन-चोवा लगाकर बैठा था। योगीन्द्र ने सोचा कि यह दूकानदार बड़ा धार्मिक है अतः यह उन्हें अच्छा बर्तन ही देगा। वे बिना किसी शंका के बर्तन खरीदकर चले। दक्षिणेश्वर पहुँचकर जब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को वह बर्तन दिखाया तब उन्हें पता चला कि दूकानदार ने उन्हें ठग लिया है और उन्हें फूटा बर्तन दे दिया है। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें पुनः ताड़ना देते हुए कहा, "अरे, भक्त होना तो ठीक है पर बेवकूफ होना ठीक नहीं है।"

योगीन्द्र सीधे-सादे तो थे पर मूर्ख नहीं थे। उनकी आलोचक-बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के कार्यों में भी संदेह किया था। इससे युगावतार के जीवन के अनेक पक्ष उद्घाटित हुए हैं। योगीन्द्र अपनी आदत से लाचार थे। वे चाहकर भी अपनी संदेह-वृत्ति को नहीं छोड़ सकते थे। उनकी यह वृत्ति उन्हें कभी-कभी बहुत अजीब परिस्थिति में डाल देती थी। एक बार योगीन्द्र श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में ही सो रहे थे। रात धीरे-धीरे गहरी होती जा रही थी। अचानक उनकी नींद खुली। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव कमरे में नहीं हैं।

वे विचार करने लगे कि इतनी रात गये श्रीरामकृष्णदेव कहाँ गये होंगे। कमरे से निकलकर उन्होंने चारों ओर देखा। श्रीरामकृष्णदेव वहाँ नहीं थे। उनका संदेह बढ़ने लगा। उनके मन में यह कुविचार जागा कि कहीं वे नौबत-खाने में अपनी पत्नी के पास तो नहीं गये हैं। यदि ऐसा हुआ तो श्रीरामकृष्णदेव सचमुच ढोंगी हैं। तब भला वे साधु कैसे हुए ? उन्हें यह रहस्य जानने की इच्छा हुई। वे चुपचाप नौबतखाने के पास जाकर खड़े हो गये और श्रीरामकृष्णदेव के बाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगे। बड़ी देर तक योगीन्द्र अपनी जगह पर डटे रहे। फिर उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव अपनी साधना-स्थली पंचवटी की ओर से आ रहे हैं। जब श्रीरामकृष्णदेव योगीन्द्र के समीप पहुँचे तब उन्होंने आश्चर्य से उनसे वहाँ खड़े रहने का कारण पूछा। योगीन्द्र पर घड़ों पानी पड़ चुका था। वे लज्जा और ग्लानि के बोझ से दबे जा रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव ने तत्काल उनकी स्थिति भाँप ली और उन्हें उत्साहित करते हुए कहने लगे, "ठीक है, ठीक है, साधु को दिन में भी परखो और रात में भी परखो।" किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के ममतापूर्ण वचनों से उनकी ग्लानि दूर नहीं हुई और वे जीवनभर अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करते रहे।

यद्यपि योगीन्द्र श्रीरामकृष्णदेव से पूरी तरह से श्रद्धा करते थे किन्तु वे संदेह करना भी नहीं छोड़ पाते थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से कामभाव से मुक्त होने का

उपाय पूछा। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि ईश्वर से प्रार्थना करने पर यह भाव बड़ी आसानी से छूट सकता है। योगीन्द्र इतनी सरल औषधि पाकर संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने विचार किया कि अनेक व्यक्ति ईश्वर की प्रार्थना करते रहते हैं पर उनका जीवन नहीं बदलता। वे सोचते थे कि श्रीरामकृष्णदेव उन्हें योग की कोई क्रिया बतायेंगे। इसीलिये उन्हें श्रीरामकृष्णदेव की युक्ति पर विश्वास नहीं हुआ। उन्हीं दिनों दक्षिणेश्वर में एक हठयोगी आया हुआ था तथा योग की क्रियाओं का प्रदर्शन कर लोगों को आकर्षित कर रहा था। एक दिन योगीन्द्र बिना श्रीरामकृष्णदेव को बताये उसके पास जाकर उसकी बातें सुनने लगे। जब श्रीरामकृष्णदेव को इस बात का पता चला तब वे तत्काल उस स्थान पर गये और योगीन्द्र का हाथ पकड़कर उन्हें कमरे की ओर ले जाने लगे। उन्होंने कहा, "तुम वहाँ क्यों गये? यदि तुम योग की उन क्रियाओं को करोगे तो तुम्हारा सारा ध्यान ईश्वर पर से हटकर शरीर पर केन्द्रित हो जाएगा।" पर योगीन्द्र इतनी जल्दी समझने वाले नहीं थे। उनका विचार था कि शायद श्रीरामकृष्णदेव हठयोगी से जलते हैं और उन्हें भय है कि कहीं वह हठयोगी उनके प्रभाव को खत्म न कर दे। इसीलिये वे चाहते हैं कि हठयोगी से योगीन्द्र न मिलें। किन्तु कालान्तर में जब उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ तब वे बड़े दुःखी हुए। श्रीरामकृष्णदेव के द्वारा बताई विधि का पालन करने से उन्हें अभूतपूर्व लाभ हुआ। वे पूरी तरह से

कामजयी हो गये । युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द इस संदर्भ में कहा करते थे कि "योगीन्द्र पूरी तरह से काम-मुक्त हैं।"

दक्षिणेश्वर में माता अवतारिणी की नित्य पूजा हुआ करती थी। उन्हें प्रतिदिन भोग लगाया जाता था तथा उनका प्रसाद साधुओं में वितरित कर दिया जाता था। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव को माता का प्रसाद देने मंदिर का कर्मचारी नहीं आया। श्रीरामकृष्णदेव बड़े चिन्तित हो उठे और उन्होंने एक व्यक्ति को पता लगाने भेजा। योगीन्द्र तब वहीं थे। उन्हें अपने भद्र-वंश पर बड़ा अभिमान था। जब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को इस छोटी सी बात पर चिन्तित होते देखा तब वे सोचने लगे कि श्रीराम-कृष्णदेव भले ही महान् संत हों पर उनपर से पुरोहित-वंश का संस्कार अबतक नहीं गया है। इसीलिये वे ऐसी छोटी-छोटी बातों पर चिन्तित हो जाया करते हैं। श्रीराम-कृष्णदेव अन्तर्यामी थे। वे योगीन्द्र के समीप आये और बोले, "रानी रासमणि ने संकल्प किया है कि मंदिर में चढ़ाया हुआ भोग साधुओं को बाँटा जायेगा। इससे उन्हें पुण्य मिलेगा। पर ये लोग इस बात का ध्यान नहीं रखते और प्रसाद को अपने मित्रों और अयोग्य व्यक्तियों को भी दे दिया करते हैं। इसीलिये मैं इस बात का काफी ख़याल रखता हूँ ताकि पुण्यात्मा रानी की इच्छा पूरी हो।" श्रीरामकृष्णदेव के बचनों को सुनकर योगीन्द्र की आँखों से भ्रम का परदा हट गया और वे जान गये कि

श्रीरामकृष्णदेव के छोटे-से-छोटे कार्य में भी गूढ़ प्रयोजन छिपा होता है।

युगावतार के निर्देशन में योगीन्द्र की आध्यात्मिक प्रगति बड़ी तेजी से हो रही थी किन्तु अच्छे दिन प्रायः अधिक नहीं होते। श्रीरामकृष्णदेव अपनी लीला का संवरण कर रहे थे। काशीपुर-उद्यान में श्रीरामकृष्णदेव ने अन्तिम दिनों में विश्राम किया था। उनकी रुग्णता में अन्य गुरु भाइयों के साथ योगीन्द्र ने भी उनकी बड़ी सेवा की थी। एक दिन श्री रामकृष्णदेव ने उनसे पंचाग पढ़नै के लिए कहा। एक तिथि पर उन्होंने योगीन्द्र को रुकने के लिये कहा। इसी तिथि को वे महासमाधि में लीन हुये थे। उनके लीला संवरण के उपरान्त योगीन्द्र भी अन्य गुरुभाइयों के साथ संन्यास-धर्म में प्रवृत्त हुए। इसी समय वे स्वामी योगानन्द बने।

स्वामी योगानन्द श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदा देवी के सही परिचारक थे। वे उनमें श्रीराम-कृष्णदेव को ही विद्यमान पाते थे। इसलिये जीवन भर वे उनकी सेवा करते रहे। समय मिलते ही वे तपस्या के लिये दूसरे स्थानों की ओर चले जाया करते थे। उनमें विलक्षण संगठन-क्षमता थी। श्रीरामकृष्णदेव की जयन्ती मनाने के लिये उन्होंने बड़े पैमाने पर योजना की थी। युगा-चार्य स्वामी विवेकानन्द जब विदेशों में हिन्दू-धर्म की पताका फहराकर भारत लौटे थे तब उन्होंने उनका व्यापक स्वागत किया था। स्वामी विवेकानन्द गुरुदेव के संदेशों का प्रचार

करने के लिए संघ का निर्माण करना चाहते थे। स्वामी योगानन्द की आलोचक बुद्धि तब भी जागृत थी। जब स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु भाइयों के समक्ष अपनी योजना रखी तब उन्होंने उसका तीव्र विरोध किया। उन्होंने कहा कि पूरी शक्ति से आध्यात्मिक साधना में लग जाना ही श्रीरामकृष्णदेव का आदर्श था, किन्तु स्वामी विवेकानन्द इसपर विचार किये बगैर स्वेच्छा से संघ-निर्माण कर रहे हैं और उनकी योजना श्रीरामकृष्णदेव के आदर्शों के प्रतिकूल है। उनकी शंका से युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द का हृदय व्यथित हो उठा। उन्होंने कहा, "योगीन, श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को संशोधित करने वाला मैं कौन होता हूँ। यदि वे चाहते तो मुट्ठी भर धूल से हजारों विवेकानन्द बना देते। किन्तु उन्होंने अपने संदेश के प्रचार के लिए इस विवेकानन्द को साधन बनाया है। श्रीरामकृष्णदेव की इच्छा विवेकानन्द की इच्छा भिन्न नहीं है।" स्वामीजी के प्रभावी बचनों को सुनकर स्वामी योगानन्द आश्वस्त हो गये और उन्होंने उनकी योजना का अनुमोदन किया।

यद्यपि स्वामी योगानन्द स्वामी विवेकानन्द से अगाध प्रेम करते थे किन्तु समय आने पर उनके कार्यों की कटु समीक्षा करने से नहीं चूकते थे। इस घटना के दो वर्षों के उपरान्त उनकी आलोचक बुद्धि का पुनः स्फोट हुआ। वे अपने गुरुभाइयों सेकहने लगे, "श्रीरामकृष्णदेव भक्ति और साधना पर काफी जोर देते थे। किन्तु स्वामी विबेकानन्द उनके संदेशों का प्रचार करने के स्थान पर रोगियों और

दरिद्रों की सेवा करने का आग्रह करते हैं। यह तो उचित बात नहीं है।' उन्होंने अन्य गुरुभाइयों की उपस्थिति में स्वामी विवेकानन्द को अपनी शंका बतायी। पहले तो सहज ढंग से बात शुरू हुई। पर धीरे-धीरे स्वामी विवेकानन्द गंभीर होते गये। भावातिरेक से उनका कण्ठ भर आया। उन्होंने समझाया कि दरिद्रों की सेवा और श्रीरामकृष्णदेव के संदेश में कोई विरोध नहीं है। किन्तु स्वामी योगानन्द ने पुनः आपत्ति की और कहा, "नरेन! ऐसा लगता है कि तुम ठाकुर को समझ नहीं सके हो?" इसपर स्वामी विवेकानन्द भावोच्छ्वसित शब्दों में कह उठे, "योगीन! क्या तुम यह समझते हो कि तुमने ठाकुर को मुझसे अधिक समझा है? भला मुझसे अधिक ठाकुर को अन्य कौन समझ सका है?" स्वामी विवेकानन्द का गात भावातिरेक से काँपने लगा। अपने भावों को प्रशमित करने के लिये वे तत्काल वहाँ से हट गये। बहुत देर तक जब वे वापस नहीं लौटे तब अन्य बंधुओंके साथ स्वामी योगानन्द उनके कमरे में पहुँचे। उन्होंने देखा कि स्वामीजी ध्यानमग्न बैठे हैं। उनके अर्धनिमीलित नेत्रों से लगातार अश्रुपात हो रहा है। यह देखकर स्वामी योगानन्द के मन से सभी प्रकार के संदेह हट गये। उन्हें स्वामीजी के सभी कार्यों और विचारों पर विश्वास हो आया। उन्होंने अनुभव किया कि स्वामीजी के कार्यों के मूल में श्रीरामकृष्णदेव की इच्छा ही क्रियाशील हो रही थी।

अत्यधिक तपस्या से स्वामी योगानन्द का शरीर जर्जर

हो चला था। उनका स्वास्थ्य निरंतर गिरता जा रहा था। २८ मार्च, १८९९ को उन्होंने पार्थिव देह का त्याग कर दिया। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने कहा था, "मुझमें ज्ञान और भक्ति का इतना विकास हो गया है कि मैं उसे व्यक्त नहीं कर सकता।" वे पवित्रता को प्रतिमूर्ति थे। उनके महाप्रयाण से स्वामी विवेकानन्द अत्यधिक दुखी हुये थे। उन्होंने कहा था, "यह महान् अंत का प्रारम्भ है।"

जिसने इच्छा का त्याग किया है, उसको घर छोड़ने की क्या आवश्यकता है ? और जो इच्छा का बँधुआ है, उसको वन में रहने से क्या लाभ हो सकता है ? सच्चा त्यागी जहाँ रहे वही बन और वही भवन-कंदरा है।

—महाभारत

ब्रह्मचर्य की महत्ता

श्रीमत् स्वामी विमलानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन

वैदिक सभ्यता ने अपनी संस्कृति के मूलतत्त्व को शक्तिशाली बनाने के लिये तथा अपने संघटक-तत्वों में समरसता लाने के लिये एक आदर्श सिद्धान्त और विशिष्ट योजना की उद्भावना की थी। पुरुषार्थ का सिद्धान्त अर्थात् चार जीवन-मूल्यों को प्राप्त करने की इच्छा इस योजना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। वैदिक धर्म की आधार शिला इस विश्वास पर टिकी हुई है कि ईश्वर ही अंतिम सत्य है; प्रत्येक आध्यात्मिक और अनाध्यात्मिक सत्ता उसी से निकली है; मनुष्य समय के सींकचों के भीतर इसलिये भटकता रहता है क्योंकि वह अपने आध्यात्मिक सत्त्व, जो कि यथार्थतः दैवी है, को भुला बैठा है; और उसे संसार से तभी मुक्ति मिल सकेगी जब वह जन्मजन्मान्तरों में से जाकर, आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँची-नीची योनियों को भोग लेगा और अपने स्वयं के प्रयत्नों से ईश्वर के साथ अपने चिरन्तन सम्बन्ध की अनुभूति कर लेगा। इसलिये मनुष्य को अपने जीवन का अच्छा से अच्छा उपयोग करना चाहिये। संसार की यह यात्रा लाभप्रद है क्योंकि इससे आध्यात्मिक और नैतिक विकास के अनेक अवसर मिलते हैं। मनुष्य किसी ऐसी निरंकुश शक्ति का दास नहीं है जो उसकी गरदन पकड़कर उससे जबरदस्ती कोई काम

कराये और उसे स्वेच्छा से पुरस्कार या दण्ड दे। पिछले जन्मों में उसके जो संस्कार बन जाते हैं वे ही उसके प्रत्येक जन्म में अवसर पाकर सुख या दुःख के रूप में प्रकट होते हैं। पुनर्जन्म के चक्र में संस्कारों का नियम बड़े तार्किक ढंग से लागू होता है। यदि कोई अपनी महत्त्वाकांक्षा के फलस्वरूप उच्चवंश में जन्म ग्रहण करता है, तो वह अपने कुविचारों और कुकृत्यों के कारण असभ्य और बर्बर वंश में भी पैदा हो सकता है। इस समस्या पर विचार करने के पश्चात् ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानवजीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये होना चाहिये। मनुष्य को एक पल के लिये भी आश्रमविहीन नहीं होना चाहिये।

चारों पुरुषार्थों में धर्म और अर्थ का अनुसरण काम अथवा मोक्ष की सिद्धि के लिये करना चाहिये। केवल गृहस्थाश्रम में ही सुख-भोग के प्रयत्न हो सकते हैं, किन्तु सुख को मात्र इंद्रिय उत्तेजना नहीं मान लेना चाहिये॥ गृहस्थाश्रम सुयोजित, सुसंयत और परिष्कृत सुख-भोग की अनुमति देता है। इसके लिये सुदीर्घ प्रशिक्षण और अनु-शासन की जरूरत होती है। जब बौद्धिक शक्तियों और भौतिक कौशल का विकास संसार से छुटकारा पाने के ध्येय से किया जाता है तभी जीने की यथार्थ कला का निर्माण होता है। काम और अर्थ का अनुसरण तभी किया जा सकता है जब उसके लिये उचित वातावरण निर्मित हो। सम्पत्ति का उत्पादन ऐसे उचित सामाजिक प्रयासों के

द्वारा किया जाना आवश्यक है जिससे न तो पारस्परिक विद्वेष का जन्म हो और न किसी को कोई हानि पहुँचे। इसलिये नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आलोक में आर्थिक प्रयत्नों को गठित करना चाहिये। धर्म में उन नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों का समावेश होता है जो जीवन को भौतिक सुख का स्रोत बनाते हैं और परमानन्द प्राप्त करने के लिये पथ-निर्देश करते हैं। चूँकि मनुष्य अपने जीवन के दूसरे सोपान में काम का उपभोग करता है, इसलिए उसके साधनों को बनाने का उत्तरदायित्व भी इसी सोपान से सम्बद्ध है। गृहस्थ को आध्यात्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक नेतृत्व की सम्भावना से युक्त एक परिपूर्ण नागरिक बनना होता है ताकि वह अन्य व्यवस्थाओं का उद्गम, आधार और संरक्षक बन सके। जीवन के प्रथम सोपान में एक सतर्क और सुदीर्घ प्रशिक्षण के अतिरिक्त इस उद्देश्यको प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। धर्मनिष्ठ समाज के इस आदर्श सिद्धान्त के आधार पर मुनियों ने आचारप्रवण व्यक्ति के जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास के चार अनुशासन बद्ध आश्रमों में विभाजित किया था।

ब्रह्मचर्य और आधुनिक प्रवृत्तियाँ:— वैदिक योजना के अनुसार व्यक्ति उपनयन, विवाह तथा अन्य संस्कारों को सम्पन्न कर आश्रमों में प्रवेश करता है। प्रत्येक संस्कार का उद्देश्य व्यक्ति को अपूर्व महत्ता प्रदान कर उसे आने-वाले संस्कारों के लिये योग्य बनाना होता है। इस योजना

में ब्रह्मचर्य की महत्ता की अतिरंजित प्रशंसा नहीं की जा सकती क्योंकि यही बौद्धिकता और नैतिकता को प्रोत्साहित करता है और अन्य सोपानों का पोषण करता है। ब्रह्म-चर्य की शक्ति गृहस्थ के जीवन के सामर्थ्य का निर्धा-रण करती है। केशव ने 'शब्दकल्पद्रुकोश' में 'ब्रह्मचारी' और 'मुख्याश्रमी' शब्दों को पर्यायवाची माना है। परम्परा से ब्रह्मचर्य का प्रयोग व्यापक रूप से प्रारम्भिक आश्रम के लिये किया गया है, जो अन्य क्रमागत आश्रमों में प्रवेश करने के लिये तैयारी करने का एक अनिवार्य सोपान है।

दर्शन और योग के ग्रंथों में ब्रह्मचर्य का प्रयोग पवित्रता, संयम और अविवाहित जीवन के रूप में हुआ है। हम आगे देखेंगे कि इस शब्द के ये दोनों अर्थ परस्पर असम्बद्ध और विरोधी नहीं हैं। शब्द का प्रचलन तब होता है जब बहुत से व्यक्ति उसका लगातार प्रयोग करते हैं। फलतः कभी तो शब्द का अर्थोत्कर्ष हो जाता है और कभी उसका अर्था-पकर्ष सामान्य बोलचाल में केवल अविवाहित व्यक्ति को ही ब्रह्मचारी कहा जाता है। यह अर्थ मूल अर्थ से काफी दूर है। अतः इस संदर्भ में, इस शब्द को जाँचते समय हमें कभी भी इसके मूल अर्थ को नहीं भुलाना होगा। श्रीमद्-भगवद्गीता के छठें (१४) और सातवें (११) अध्याय में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग योगी के उस अनुशासन के अर्थ में किया गया है जिसका पालन वह जीवन के अत्युच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिये करता है। सत्रहवें (१४) अध्याय में इसका प्रयोग कायिक तप के अर्थ में किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता ने शताब्दियों से भारतीय समाज के अन्तर्गत धीरे-धीरे रिसने वाली इस परम्पराप्राप्त सांस्कृतिक व्यवस्था को निरस्तप्राय कर दिया है। हम यह भली-भाँति जानते हैं कि विज्ञान के अन्वेषणों और आविष्कारों के बिना हमारे आर्थिक और व्यापारिक जीवन की प्रगति नहीं हो पाती। यदि उत्पादन और वितरण की वैज्ञानिक विधि का सहारा नहीं लिया जाता तो उद्योग आदिम कुटीर उद्योगों के स्तर से आधुनिक काल के समान विकसित नहीं हो पाते। विज्ञान और उद्योग के अन्तरावलम्बन से हमारे दृष्टिकोण में भी काफी परिवर्तन हो गया है। १९६० ई. के भारतवर्ष में जो अभूतपूर्व मात्रा में जो सामाजिक परिवर्तन हुआ है वह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। सुदीर्घ काल तक दूर दूर फैलकर बसी हुई जनता के बीच धीमी गति से होनेवाले वैयक्तिक सम्पर्क के फलस्वरूप जिस पुरातन संस्कृति का निर्माण हुआ था, वह आज यांत्रिकता की तीव्र गति के विस्फोटों के द्वारा कुचली जा रही है। विचारवान् व्यक्ति इस तथ्य को जानते हैं। वे नयी पीढ़ी पर छाये हुए विनाशकारी प्रभावों में से कुछ का निराकरण करने के लिये एक आध्यात्मिक व्यवस्था की कामना करते हैं। जो कार्य सही जानकारी और निर्मल प्रेरणाओं से किये जाते हैं वे भले ही समाज के नैतिक पतन को पूरी तरह न रोक सकें किन्तु उनमें उसका विरोध करने की शक्ति सदैव रहती है। इसलिए आज ब्रह्मचर्य की महत्ता को समझना बहुत आवश्यक हो गया है।

वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य का आरम्भिक प्रयोग आश्रम के अर्थ में किया गया है। मैत्रायणीय शाखा के मानवगृह्य-सूत्र का भाष्य करते हुए अष्टावक्र कहते हैं, "ब्राह्मणो वेदस्य चर्यं चरणं अध्ययनं .... ब्रह्म वेदः, तदध्ययनांगानि व्रतानि अपि ब्रह्म उच्यते, चर्यं अनुष्ठानम्।" यहाँ यह शब्द 'वेद-ब्रह्मचर्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके दो अर्थ हैं — अध्ययनप्रधानपक्ष और अनुष्ठानप्रधानपक्ष। पहले का अर्थ है एक सुयोग्य गुरु से वेद के सूत्रों का सही, व्यवस्थित और परम्परागत ज्ञान प्राप्त करना; और दूसरे का अर्थ उन नैमित्तिक क्रियाओं से लगाया गया है जिन्हें विद्यार्थी अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले सम्पन्न करता है।

<u>वेद — ब्रह्मचर्य की दीक्षाः</u> — ब्रह्मचर्य आश्रम का निर्माण वैदिक ज्ञान को सुरक्षित और प्रसारित करने के लिये और वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की नींव तैयार करने के लिये किया गया था। धार्मिक व्यवस्था में एक आचारसंहिता और क्रमागत अनुशासन के विविध सोपान होते हैं। धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचय के अनेक विधान हैं। वे पूर्वपुरुषों के व्यवहारों और परम्परा पर आधारित हैं। इसलिये उनमें बड़ी विविधता है। प्रथमतः, धार्मिक रूप से गठित त्रैवर्णिक समाज के व्यक्ति ही ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट हो सकते हैं। अपनी इच्छाओं और उत्तेजनाओं के इंगितों पर जीवन बितानेवाले सामान्य व्यक्ति इसमें प्रवेश नहीं कर सकते। त्रैवर्णिक छात्रों के भीतर भी कई समूह होते हैं जो आपस में पर्याप्त भिन्न

होते हैं। स्मृतिकारों ने विभिन्न समूहों के लिए विशिष्ट वस्त्र, यज्ञोपवीत और करधनी की लम्बाई और बुनावट, विशिष्ट वृक्षों के दण्ड और उनकी लम्बाई और गुण का विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु गुरु-सेवा, वेद-अध्ययन और आचार-संहिता सभी के लिये समान है। यदि ब्राह्मण अपने पुत्र को ब्रह्मवर्चस् से मंडित देखना चाहता है तो उसे उसका उपनयन संस्कार पाँच वर्ष की उम्र में करा देना चाहिए। क्षत्रिय अपने लड़के का ६ वर्ष की उम्र में और वैश्य ८ वर्ष की उम्र में उपनयन-संस्कार करा सकता है। व्यवहार में, तीनों वर्णों में क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की उम्र में यह संस्कार होता है। यदि कोई व्यक्ति उपनयन के लिये निर्धारित अंतिम तिथि तक दीक्षा नहीं लेता तो वह व्रात्य बन जाता है और उसे श्रेष्ठ कुल में विवाह करने का अधिकार नहीं होता। अंधे, गूंगे और पागल व्यक्ति उपनयन के अयोग्य माने जाते थे।

उपनयन (जो आज मूलतत्त्व से रहित दिखावा मात्र रह गया है)। को तप और स्वाध्याय के द्वारा व्यक्ति के आध्यात्मिक पुनर्जन्म का द्वार माना गया था। इससे सम्बन्धित एक अनुष्ठान को 'मेधाजनन' (अर्थात् मेधा उत्पन्न करने वाला) कहते थे। प्राचीन काल में वैदिक और लौकिक शिक्षा साथ-साथ दी जाती थी। निर्धारित तिथियों में प्रातःकाल वेदों का अध्ययन किया जाता था और मध्याह्न काल में लौकिक विद्या पढ़ाई जाती थी। पढ़ाई शुरू करने के पहले अक्षर-ज्ञान के लिये 'विद्यारम्भ' नामक

नैमित्तिक अनुष्ठान किया जाता था। ऋषि विद्यारम्भ को कोई संस्कार नहीं मानते थे। विद्यारम्भ के लिये किसीका निषेध नहीं था। यह आयोजन उपनयन के पहले किया जाता था। किन्तु उपनयन के बिना 'ब्रह्मविद्यारम्भ' या वेदाध्ययन का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश किये बिना कोई भी द्विज या सवर्ण व्यक्ति विवाह या जीवन के अन्य किसी सोपान में प्रवेश नहीं कर सकता था। इन्हीं कारणों से ब्रह्मचर्य अतिशय महत्त्व-पूर्ण बन गया था।

प्रायः दम्पतियों में अपने पुत्र को पढ़ाने के लिए वैदिक ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य की सी योग्यता नहीं होती सामान्यतः उनका ममत्व और लगाव अनिवार्य कठोरता के साथ 'मानवक' या बालक की शिक्षा के मार्ग में बाधक बन जाता है। इसलिये बालक को अन्य गुरु के घर भेजा जाता है। गुरु बालक को यथासम्भव बिना कोई शारीरिक दण्ड दिये शिक्षा प्रदान करते हैं (शिष्यशिष्टिर् अवधेन-गौतम)। उपनयन संस्कार का प्रमुख अंश वह होता है जब गुरु और शिष्य आमने-सामने बैठ जाते हैं। गुरु शिष्य को सावित्री मंत्र दुहराने के लिए कहता है। पहले बारी-बारी से और फिर एक साथ मंत्र दुहराया जाता है। इसप्रकार आध्यात्मिकता का जो बीज शिष्य की मेधा में रोप दिया जाता है वह आध्यात्मिक जीवन के वृक्ष के रूप में बढ़ता है और उसे फल और आश्रय प्रदान करता है। लाड़-प्यार में पला बालक जिसे चलने-फिरने, घूमने, बोलने और खाने-पीने की

पूरी स्वतंत्रता रहती है [कामचारः, कामवादः, कामभक्षः], अब वह अपने परिजनों से अस्थायी रूप से अलग होकर समाज का एक अंग बन जाता है। वह नियमानुसार अपने निर्वाह के लिए दूसरे घरों से भिक्षा माँग लाता है। उसे जो कुछ मिलता है उसे पहले गुरु को दे देना पड़ता है। उनकी आज्ञा से वह उसे पहले ईश्वर को निवेदित करता है। फिर अपने पास जल का पात्र रखकर उसे शान्ति और आनन्द से बिना उसके स्वाद की परवाह किये ग्रहण कर लेता है। प्राचीन काल में यज्ञोपवीत, मेखला या करधनी और दण्ड को ब्रह्मचारी का चिह्न माना जाता था। इन्हीं के द्वारा वह पहचाना जाता था और आदर एवं सहानुभूति का अधिकारी होता था।

बालक को शौच या शारीरिक और नैमित्तिक स्वच्छता की शिक्षा बहुत पहले से दी जाती थी। शौच के नियम स्वच्छता पर आधारित थे। जबतक ब्रह्मचारी शारीरिक और आन्तरिक रूप से पवित्र नहीं होता तबतक उसे संध्या, अग्न्याधान और वेदाध्ययन के योग्य नहीं समझा जाता। ब्रह्मचारी को घृणित ढंग से खाँसना या थूकना नहीं चाहिए। उसे मुख पर वस्त्र रखे बिना जम्हाई नहीं लेनी चाहिए उसे अंग नहीं चटकाने चाहिये। उसे न तो जोरों से हँसना चाहिये और न वकवास ही करना चाहिये। उसे तर्क नहीं करना चाहिये। उसे नृत्य और संगीत का त्याग कर देना चाहिये। विद्यार्थी को अपनी वाणी, हाथ और पेट को संयमित करना चाहिये। उसे जुआ या पासा और पशुओं

की लड़ाई नहीं देखनी चाहिये। उसे अन्य प्राणियों को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। ब्रह्मचर्य आश्रम में माँसाहार, साज-सज्जा और तेल-फुलैल लगाकर नहाना वर्जित है। ब्रह्मचारी को लोभ, क्रोध और मोह का दमन करना चाहिए उसे कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिये और उसे दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। उसे आनन्द से विह्वल नहीं होना चाहिये। और न अत्यधिक निराश होना चाहिए। उसे बिना कोई बहाना बनाये अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। उसे ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखनी चाहिये जो उसकी नहीं है। उसके लिये नशा करना और अधिक खाना वर्जित है। उसे आड़ में खड़े होकर गुरु को उत्तर नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उनके पास सम्मुख होकर उनसे वार्तालाप करना चाहिये। यह उसका कर्त्तव्य है कि वह उनके सम्मुख उनसे नीचे आसन पर बैठे, उनके पीछे चले, उनसे पहले उठे और उन्हें बताकर जो कुछ करना है वह करे। जो कुछ किया जा चुका है उसे गुरु को अविलम्ब बताना चाहिये। ब्रह्मचारी को अपने गुरु के बिछौने और आसन का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। उसे सभी परिस्थिति में समुचित रूप से व्यवहार करते रहना चाहिये वैदिक सूक्ति में सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोना वर्जित बताया गया है। सूर्योदय के समय सोने वाले को 'अभ्युदित' और सूर्यास्त के समय सोनेवाले को 'अभिनिर्मुक्त' कहकर उनकी निन्दा की गयी है। जो ब्रह्मचारी इस नियम को भंग करता है उसे प्रायश्चित करना पड़ता है।

ब्रह्मचारी का जीवन आज्ञापालन और दायित्व से पूर्ण होता है। केवल स्वयं के कल्याण के लिए कठोर अनुशासन में रहना पर्याप्त नहीं है। उसे इस बात को भी हृदयस्थ कर लेना पड़ता है कि श्रद्धास्पद लोगों के प्रति प्रकट की गयी श्रद्धा कभी भी व्यर्थ नहीं होती। इसलिये उसे बहुत पहले से 'अभिवादन' की शिक्षा दी जाती है। वह श्रद्धास्पद के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करता हुआ अपने नाम और गोत्र का उच्चारण करता है और उनका पादोपसंग्रहण अर्थात् चरण पकड़ने के उपरान्त उठता है। किसी व्यक्ति के सम्मान में उठना और उन्हें नमस्कार करना 'प्रत्युत्थान' कहलाता है। ये आदर प्रकट करने के बिविध तरीके हैं। अभिवादन के अनेक प्रकार होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। यदि सेवक किसी विशिष्ट अभिप्राय से अपने स्वामी को प्रणाम करता है तो उसे काम्य कहते हैं। गुरुके प्रति किया गया प्रणाम नित्य कहलाता है। जब कोई वरिष्ठ व्यक्ति यात्रा से वापस लौटता है तो उसे किया गया प्रणाम नैमित्तिक कहलाता है। सामाजिक परिवेश में बड़े भाई, बड़ी बहिनें, उनके पति, पिता के समवयस्क मित्र, चाचा, मामा और पड़ोसी सम्मान के दायरे में अपना अलग अलग स्थान रखते हैं। ब्रह्मचारी को उनके आज्ञापालन के लिये तत्पर रहने की और उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उन्हें अवसरानुकूल वस्तुएँ प्रदान करने की सीख दी जाती है। गुरु-श्रद्धा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। गुरु ही ज्ञान के द्वारा उसे दूसरा जन्म प्रदान करते है। अतः ब्रह्मचारी गुरु

के बाद ही अन्य व्यक्तियों का सम्मान करता है। अपने से बड़ों का आदर, विद्वानों की सेवा और तितिक्षा से विवेक, सम्पदा और कल्याण की प्राप्ति का द्वार खुल जाता है। स्मृति यह बताना नहीं भूलती कि आज्ञापालन आज्ञा-दाता में भी कुछ दायित्वों और गुणों की अपेक्षा करता है। जब गुरु से शिक्षा देने की प्रार्थना की जाती है तब उन्हें पढ़ाने से इंकार नहीं करना चाहिये। यदि गुरु के वचन धर्म के प्रतिकूल हैं तो शिष्य उन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं होता। यदि गुरु दुश्चरित्र हैं, यदि वे स्वयं नहीं पढ़ते और दूसरों को नहीं पढ़ाते, तो ब्रह्मचारी को ऐसे गुरु को त्याग देना चाहिये। विद्या, आयु, धन, सम्बन्ध और आचरण व्यक्ति को श्रद्धास्पद बनाते हैं। वशिष्ठ इन सबमें विद्या को ऊँचा समझते हैं। मनु धन का स्थान सबसे नीचे बताते हैं। विष्णुस्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति को अनुचित कार्य करने से बचाता है उसे गुरु ही मानना चाहिये।

ब्रह्मचारी प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये बारह वर्षों तक गुरुकुल में निवास करता है। प्रायः विद्यार्थी को उसी शाखा के वेद की शिक्षा दी जाती है जिससे वह सम्बन्धित होता है। इसलिए बहुत से लोग अड़तालीस वर्षों की पूरी अवधि तक गुरुकुल में नहीं रहते। सोलह वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी का 'गोदान' या 'केशान्त' समारोह किया जाता है। इसमें वह अपने शिर के और दाढ़ी के बालों को साफ करता है। इसके पहले तक, कुछ मान्यताओं के अनुसार, वह सिर

और दाढ़ी के बालों को बढ़ने देता है। जब विद्याध्ययन समाप्त हो जाता है तब वह गुरुदक्षिणा देकर घर लौटता है। अब वह स्नातक बनकर विवाह की तैयारी करता है। मनुस्मृति के अनुसार अविप्लुत अर्थात् कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरान्त व्यक्ति को गार्हस्थ्य में प्रवेश करना ही चाहिए। धर्मशास्त्र के सभी रचयिता विवाह-पूर्व दुराचार का तिरस्कार करते हैं। यद्यपि पुराणों और इतिहासों में कानीन, अयध्यस्त तथा अन्य नियमविरुद्ध प्रजोत्पत्ति के उदाहरण मिलते हैं किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर अप्रत्यक्ष रूप से अनेकानेक कथाओं में इन सबका तिरस्कार किया गया है। नीतिवेत्ताओं ने सदैव सामाजिक रूप से स्वीकृत और धार्मिक रूप से आयोजित विवाह के द्वारा की गई आदर्श प्रजोत्पत्ति का अनुमोदन किया है। उच्चतर सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं था। सामान्यतः समाज के अधिकांश स्त्री-पुरुष विवाहित जीवन बिताते हैं। इसलिये मनीषियों ने समाज के लिये उपकुर्वाण* ब्रह्मचर्य की महत्ता पर तरह तरह से जोर दिया है।

क्रमशः

('प्रबुद्ध भारत' से साभार)

---

* गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद।

परिवर्तन

डा० प्रणव कुमार बनर्जी, पेण्ड्रा

दुनिया बदल नहीं सकती।
हर अभिलाषा सीमित होती है,
हर उम्र की मृत्यु होती है,
विराट को बाँध नहीं सकते,
हर क्रांति की उम्र होती है,
अपने को बदलने में सौ साल कम पड़ते हैं।
दुनिया अपने में बहुत बड़ी होती है।

दुनिया बदल नहीं सकती।

कुटिया के बदले महल दो बनाकर,
नदी की राह पर बाँध कुछ खड़ाकर,
सोचना गलत है दुनियाँ बदल गई,
बाहर से भीतर की खामी बड़ी होती है।

दुनिया बदल नहीं सकती।

दुनिया न बदलकर हम स्वयं ही बदलें,
हँसी जो आये तो स्वयं पर ही हँसलें,
आँसू के सागर में सीप भी तो हैं कुछ,
थोड़ासा डूबकर मोतियों को चुनलें,
मरण की रात को हिसाब भी देना है,
आत्मा की बातें भी थोड़ी सी सुनलें।

आत्मबोध

राय साहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर

आत्मा है या नहीं? और यदि है तो उसका क्या लक्षण है?— इस विषय पर बहुत मतभेद है। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म शुरू में निरात्मवादी था, किन्तु बाद में उस धर्म के आचार्यों ने बतलाया कि "आत्मा हो अथवा न हो— इस झगड़े में न पड़कर मन के निग्रह करने का कार्य मुख्य है।" हमारे देश में जो चार्वाक नामक मत फैला, उसका सिद्धान्त था कि इस जगत् में कोई नित्य वस्तु नहीं है। न आत्मा है, न ब्रह्म है। जब पंच महाभूत शरीर में एकत्र होते हैं, तो उनके मिलाप से एक चेतन शक्ति आप से आप उत्पन्न हो जाती है, जिसका नाम लोगों ने "आत्मा" रखा है। और उनके (पंच तत्त्वों के) पृथक् होने पर वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। बाइबिल की जेनेसिस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में बतलाया गया है कि परमेश्वर ने "मनुष्य को पृथ्वी की धूल से बनाया और उसकी नाक में जीवन की हवा फूँक दी, जिससे मनुष्य जीवित आत्मा हो गया।"

पश्चिमी देशों के तत्त्ववेत्ताओं का विचार है कि आत्मज्ञान होने के पहिले मनुष्य को यह देखना पड़ता है कि जगत् में चेतना चहुँओर है या नहीं?—फिर उसे वह शरीर के भीतर देखने का प्रयत्न करता है। बाद में ऊपर प्रभु की ओर दृष्टि कर देखता है कि जो आन्तरिक चेतना प्रभु से

मनुष्य में आई है, वह उसी के समान है या नहीं ? उपनिषदों के रचयिताओं के विचार में स्वात्मा ही प्रधान है तथा जगत् और प्रभु का निर्णय, आत्मा के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर है। लेकिन पुरुष, प्रकृति और परमेश्वर के स्वरूप और एक दूसरे के परस्पर संबंध के विषय में सबका विचार एकसा नहीं है। कोई कहता है कि जीवात्मा प्रभु से एक भिन्न वस्तु है; कोई आत्मा को ईश्वर का अंश मानता है; किसी का विचार है कि परब्रह्म और जीव कुछ अंशों में एक हैं और कुछ में पृथक्। किसी का कहना है कि जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर ही नहीं है। किसी की मति में जीव अनेक हैं, लेकिन ईश्वर के आधीन हैं; कोई सारे जीवों में एकता देखता है। किसी का सिद्धान्त है कि जीव सूक्ष्म है और कोई उसे व्यापक बतलाता है। कोई कहता है कि वह कर्त्ता और भोक्ता है और कोई उसे साक्षी मात्र—असंग—सिद्ध करता है। कोई उसे सगुण मानता है और कोई निर्गुण। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार "अविद्या" में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब गिरता है, उसी का नाम जीव है। तात्पर्य यह कि इस गूढ़ तत्त्व के बारे में अनेक कल्पनाएँ हैं और होती रहेंगी।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि बाइबिल के अनुसार जीवात्मा केवल प्रभु की "फूँक" है, जो प्राणियों के शरीर में उनके पैदा होने के समय फूँकी जाती है। इसी तरह कुरानशरीफ में बतलाया है कि खुदा ने अपनी रूह आदम में फूँक दी और वह जीवित हो गया। याने, इन दोनों धर्मों के अनुसार जीवात्मा श्वास मात्र है। चूँकि प्रत्यक्ष देखने में

आता है कि जब तक मनुष्य जीवित रहता है, साँस चलती रहती है और मृत्यु-अवस्था में बंद हो जाती है, इसलिए प्राणवायु को ही जीवात्मा समझना अस्वाभाविक नहीं है। छांदोग्यो-पनिषद् में भी बतलाया है कि जिसतरह ब्रह्माण्ड में वायु प्राणियों का आधार है, उसी तरह मनुष्य के भीतर चैतन्यशक्ति प्राण ही है। निद्रा के समय मनुष्य की वाणी, आँख, कान और मन, सबको प्राण सोख लेता है। इसी कारण प्राण को आध्यात्मिक संवर्ग कहा जाता है। इसी उपनिषद् में एक उदाहरण देकर समझाया गया है कि जैसे एक सूत से बँधा हुआ पक्षी चारों ओर घूम फिरकर और थककर फिर बँधे हुए स्थान का आश्रय ले लेता है, उसी तरह मन भी चारों ओर घूमकर प्राण का ही आश्रय लेता है। इस तरह प्राण का माहात्म्य बतलाकर कहा गया है कि जो प्राण ही को निश्चय करके समझाता है कि संसार में जो कुछ है वह सब प्राणरूप आत्मा है, उसको "अतिवादी" कहते हैं। इस पर नारद ऋषि ने जब सनत्कुमार से कहा कि वे अतिवादी होकर सत्यज्ञान सीखना चाहते हैं, तब सनत्कुमार ने उन्हें समझाया कि जो अपने आपको ही देखता, जानता, निश्चय करता, अपने में ही रमण करता, क्रीड़ा करता और अपने में ही आनन्दित रहता है, उसी की आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है और सारा नाम-रूपात्मक जगत् पैदा होता है। आगे चलकर इसी उपनिषद् में आत्मा का अन्वेषण, प्रजापति के मुख से इन्द्र को समझाते हुए, इस प्रकार किया गया है :—

"हे इन्द्र ! यह शरीर मरण धर्म वाला है और जीवात्मा जो अमर और शरीर रहित है, उसका अधिष्ठान है। जैसे वायु, जो शरीर-रहित है, आकाश से निकलकर आकाश में ही लीन हो जाती है, उसी तरह मुक्त जीवात्मा इस शरीर से निकलकर अपने निजी रूप (ब्रह्म) में मिल जाता है।" इसी प्रकरण में आत्मा को प्राण से अलग बतलाते हुए समझाया है कि जैसे रथ में उसे खींचने के लिए घोड़े जुते होते हैं, उसी तरह इस शरीर में कर्मफल भोगने के लिए प्राण जुते रहते हैं। वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर रहता है, जो पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन और बुद्धि का बना हुआ होता है। स्थूल शरीर मरता है, पर सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ रहकर कर्मानुसार पुनर्जन्म लेता रहता है। जब तक आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता है, वह जन्म लेता रहता है, पर ज्ञान होने पर सूक्ष्म शरीर जिससे जीवात्मा बद्ध रहता है, नष्ट हो जाता है और फिर जीवात्मा ह्म में लीन हो जाता है।

इसी तरह बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के तीसरे ब्राह्मण में राजा जनक के प्रश्नों पर याज्ञवल्क्य ऋषि ने जीवात्मा के विषय में जो प्रकाश डाला, वह इस प्रकार है :—

१. प्रश्नः — जीवात्मा जो शरीर के भीतर रहता है, उसमें ज्योति कह से आती है ?

उत्तर :— यह जीवात्मा, जब सूर्य रहता है, तब उसके प्रकाश से प्रकाशित होता है; जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब चन्द्रमा के प्रकाश से दोनों के अस्त होने पर अग्नि की ज्योति से; ज्योति के न रहने पर वाणी से और वाणी के न रहने पर अर्थात् वाणी के बंद हो जाने पर अपने ही प्रकाश से। क्योंकि स्वयं आत्मा ही ज्योति वाला है।

२. प्रश्नः — यदि आत्मा स्वयंज्योतिःस्वरूप है, तो क्या वह शरीर के भीतर रहने के कारण इन्द्रियों और अन्तःकरण से उत्पन्न होता है अथवा इन्द्रियसहित शरीरसमुदाय आत्मा है या इनसे भिन्न है ?

उत्तरः—जो इन्द्रियों में विज्ञानरूप से स्थित है; जो बुद्धि में अन्तःस्थ प्रकाश वाला है, वही आत्मा है। जीवात्मा स्वप्न में सुख-दुख का भोग करके जाग्रत् अवस्था आने पर स्वप्न के देखे हुए दृश्य से बद्ध नहीं होता क्योंकि वह असंग है। और सुषुप्ति अवस्था में वह जाकर अति सुख भोगता है, क्योंकि उस अवस्था में वह अपने निजीस्वरूप में होकर कामना, पाप, भय और शोक इत्यादि से रहित हो जाता है; इस अवस्था में वह अपने स्वरूप आनन्द और अज्ञान (जिससे वह आवृत्त रहता है) का अनुभव करता है। वह किसी

अन्य वस्तु को नहीं देखता, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई और वस्तु है ही नहीं।

इसी विषय को फिर चौथे ब्राह्मण में समझाते हुए बतलाया है कि जीवात्मा प्राण का प्राण है, नेत्र का नेत्र है, श्रोत्र का श्रोत्र है और मनका मनन करने वाला है। वह सब इन्द्रियों में चैतन्य रूप से स्थित है, अजन्मा है, सबका शासन करने वाला है, वही 'नेति – नेति' शब्द करके अग्राह्य है और जो उसे जान जाता है, वह मुनि कहलाता है।

केनोपनिषद् (१–१–२) में भी किसी शिष्य के पूछने पर कि मन आदि इन्द्रियसमूह को प्रेरित करनेवाला कौन है ? गुरु ने बतलाया कि जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और वाणी की भी वाणी है, वही प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है। इस उत्तर का अर्थ यह है कि सब इन्द्रियों के सामर्थ्य का निमित्तभूत कोई ऐसा पदार्थ अवश्य है, जिसको चेतन आत्मा कहते हैं।

कठोपनिषद् (२–२–९, १०) में आत्मा का उपाधि प्रतिरूपत्व समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुई एक ही अग्नि या लोक में प्रविष्ट हुई वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रही है, उसी प्रकार संपूर्ण भूतों की एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रही है और उनसे बाहर भी है। इस प्रकार एक ही सर्वात्मकता होने पर सिद्ध होता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं।

योगवासिष्ठ में बतलाया गया है कि संसार में चेतन

पदार्थ का नाम जीव है (२।७।७)। यह आत्मा सब भावों से मुक्त, बाल की नोंक के सौवें भाग से भी सूक्ष्म, परम अणु और सब दृश्य पदार्थों से परे है (४।३३।११)। जल और कमल के समान शरीर और आत्मा पृथक् हैं (५।५।२६)। जन्म, मरण, आपत्ति, दुःख, सुख, आना-जाना आत्मा को नहीं होता (६।६।१५)। जैसे किसी की दृष्टि में दोष होने के कारण दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह जीवको भी सत्य और असत्य के भ्रम से आत्मा में अनात्मा रूप का भ्रम होता है (३।१००।३५)। अहं-भाव के शांत होने पर, भेद भाव न होने के कारण मन के एकाग्र होने से जिस चेतन का अनुभव होता है, उसी को अपनी आत्मा का स्वरूप जानो (३।११७।१०)।

श्री मद्भगवद्गीता (३।४२) में बतलाया गया है कि जो तत्त्व इन्द्रियों से, मन और बुद्धि से भी परे है, वही आत्मा है। और तेरहवें अध्याय में समझाया गया है कि जो इस शरीर को जानता है उसी को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। पंच महाभूत, ज्ञान और कर्म की इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय, मन, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, प्राण आदि का व्यापार और धैर्य, ये कुल ३१ तत्त्व क्षेत्र हैं अथवा जड़ हैं और जड़ शरीर के भीतर जो पुरुष है वही परमात्मा है (१३।२१)। सांख्य शास्त्र में भी इसी चेतन शक्ति का नाम पुरुष है।

यदि ऊपर लिखे हुए प्रमाणों का सहारा न भी लिया जाये तो भी हर एक मनुष्य को यह सदैव प्रतीत होता

रहता है कि "मैं हूँ", और अपना इस प्रकार का अनुभव आत्मा के अस्तित्व का सबसे प्रबल प्रमाण है। इसकी व्याख्या करते हुए छांदोग्योपनिषद् (८।१२ ४, ५) में बतलाया गया है कि जो देह से पृथक् है जो इन्द्रियों से उनके व्यवहार और व्यापार कराता है तथा उन्हें जानता है, वही आत्मा है। इस आत्मा को पहचानने की विधि तैत्तिरीयोपनिषद् में यों बतलाई गई है कि पहिले समझ लो कि शरीर पाँच कोशों का बना हुआ है और आत्मा उनसे पृथक् है— "यो वेद निहितं गुहायाम्।"

श्री मद्भागवत् के तृतीय स्कन्ध के २७ वें अध्याय में बतलाया है कि परम पुरुष परमात्मा निर्गुण है, इसलिए अकर्त्ता और अविकारी है। जैसे सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब पड़ने पर जल के गुण, धर्म और चाञ्चल्य से सूर्य नहीं हिलता, वैसे ही प्रकृति अथवा माया से बनी हुई देह में स्थित होते हुए भी पुरुष उसके गुणों से, याने सुख, दुःख आदि से लिप्त नहीं होता। आत्मा के तीन आवरण हैं; पहला—देह, इन्द्रिय, मन आदि; दूसरा—अहंकार और तीसरा—प्रकृति। सुषुप्ति अवस्था में देह का नाता छूट जाता है और तुरीय अवस्था अथवा समाधि में अहंकार नष्ट हो जाता है; लेकिन प्रकृति का सम्बन्ध तभी टूटता है, जब पुरुष तत्त्वज्ञ होकर, ब्रह्म में मन लगाकर अपने में ही रमण करता है।

ज्ञान हो जाने पर आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता। इसके कई प्रमाण हैं :—

(१) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६-११)
अर्थात् सब भूतों में एक ही देव छिपा हुआ है।

(२) "विदिते वेद्यं नास्ति" (ई० उ० ७)
अर्थात् बोध हो जाने पर कोई ज्ञेय नहीं रहता।

(३) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४-३-२३)
अर्थात् उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं।

(४) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६-२-१)
अर्थात् एक ही अद्वितीय है।

(५) "आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्तीति पूरुषः'
(बृ० ४-४-१२)

अर्थात् यह जान लो कि अपनी आत्मा का यथार्थ ज्ञान है—"मैं ब्रह्म हूँ।"

(६) "अयमात्मा ब्रह्म।" (बृ० २-५-१९)
अर्थात् यही आत्मा ब्रह्म है।

(७, "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १-४-१०)
अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ।

(८) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६-८-७)
अर्थात् ब्रह्म ही तेरी आत्मा है।

(९) "अविभक्तं च भूतेषु, विभक्तमिव च स्थितम्"
(गीता, १३-१६)

अर्थात् वह अखण्डित होकर भी सब भूतों में मानो विभक्त हो रहा है।

(१०) "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (क० उ० २-२-६)

अर्थात् उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों की एक ही अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप हो गई।

ऊपर दिये हुए वाक्य अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक हैं। इसके-भी दो विभाग हैं—एक में जीवात्मा को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना जाता है और दूसरे में उसका अंश। उदाहरण के लिए बतलाया जाता है कि सूर्य एक है, लेकिन उसका बिम्ब अनेक जल भरे कटोरों में पड़ने से प्रत्येक कटोरे में एक अलग सूर्य नजर आता है। और अंशी आत्मा उस प्रकार का बतलाया जाता है, जैसे एक बड़े जलते हुए अलावा (अग्निसमूह) में से छोटी-छोटी चिनगारियाँ बाहर निकल आती हैं, लेकिन हर एक चिनगारी वस्तुतः आग ही होती है। (बृ० २।१।२०)

इन सिद्धान्तों के अतिरक्त भारतीय तत्त्ववेत्ताओं का एक ऐसा वर्ग भी है, जो जीव को ब्रह्म से बिलकुल भिन्न मानता है। ये लोग द्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। "सत्यार्थ-प्रकाश" के सप्तम समुल्लास में बतलाया गया है कि यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों चेतन स्वरूप हैं, स्वभाव भी दोनों का पवित्र, अविनाशी और नित्य है, परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, उसका प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पापपुण्य का फल देना आदि परमेश्वर के धर्मयुक्त कर्म हैं और सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन, शिल्प विद्यादि जीव के

अच्छे-बुरे कर्म हैं। नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल ये सब ईश्वर के गुण हैं और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, मन, गति, इन्द्रिय और अनन्त विकार ये सब जीव के।

द्वैतवादी भी अपने सिद्धान्त के समर्थन में उपनिषदों का प्रमाण देते हैं।

देखिये :— (१) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति। (क०उ० १-३-१)

अर्थात्, ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीर में बुद्धि रूप गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थान में प्रविष्ट हुए अपने कर्म-फल को भोगनेवाले छाया और धूप के समान दो परस्पर विलक्षण तत्त्व हैं। ये दोनों तत्त्व ईश्वर और आत्मा हैं। इनमें से ईश्वर जीव के कर्मफल का भोग नहीं करता, लेकिन जीव के सम्बन्ध के कारण उसे भी भोगी सा होना बतलाया गया है।

(२) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य —
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। (मु० उ० ३-१-१)

अर्थात्, साथ साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं। उनमें

से एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके 'केवल देखता रहता है।

(३) द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
(गीता १५–१६)

अर्थात्, इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूत शरीर तो नाशवान् है और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

(४) एको देव :सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। (श्वे० उ० ६-११)

अर्थात्, समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, जो सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। इससे यह अर्थ निकाला जाता है कि प्राणियों में जीवात्मा से भिन्न परमात्मा भी रहता है।

(५) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति। (तै० उ० ३–१)

अर्थात्, जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं। अर्थ यह कि जीवात्मा ईश्वर नहीं, बल्कि ईश्वर का बनाया हुआ है।

श्री रामानुजाचार्य के विचार में ब्रह्म और जीव दोनों अजन्मा हैं और उन में से जीव के भोग के लिए प्रकृति है।

उनके सिद्धान्त के समर्थन के लिए नीचे बतलाए हुए प्रमाण हैं:—

(१) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा,
वजाह्ये का भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता,
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ (श्वे० उ० १-९)

अर्थात्, ये (ईश्वर और जीव) सर्वज्ञ और अज्ञ तथा सर्व समर्थ और असमर्थ हैं। ये दोनों ही अजन्मा हैं; एक मात्र अजा प्रकृति ही जीव के लिए भोग्य सम्पादन में नियुक्त है। विश्व रूप आत्मा तो अनन्त और अकर्ता है। जिस समय इन (ईश्वर, जीव और प्रकृति) तीनों को ब्रह्मरूप अनुभव करता है।

(२) वेत्थ नु त्वं काव्य तत्सूत्रं ये नायं च लोकः
परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति।
(बृ० उ० ३-७)

अर्थात्, हे काव्य! क्या तू उस सूत्र को जानता है? जिससे यह लोक और परलोक तथा सम्पूर्ण प्राणी गुँथे हैं तात्पर्य यह कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति पृथक् होते हुए भी एक में गुँथे हुए हैं।

(३) तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्— (तै० उ० २-६)

[इसे रचकर वह इसी में अनु प्रविष्ट हो गया।]— अर्थ यह कि ब्रह्म ने अपने प्रकृति अंग से शरीर रचा और जीव-अंग को उसमें जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट कर

दिया। अद्वैत वादी इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार लगाते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष होने के कारण "इस कार्य वर्ग को रच-कर इसमें अनुप्रविष्ट सा हुआ। आकाशादि का कारण-रूप वह ब्रह्म ही बुद्धि रूप गुहा में द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता ऐसा सविशेष रूप सा जान पड़ता है।'

(४) स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः
सर्व एत आत्मानः समर्पिताः। (बृ० उ० २-५-१५)

अर्थात्, निश्चय ही वही परमात्मा सब भूतों का अधि-पति है और उसमें सब जीवात्मा समर्पित रहते हैं।

तात्पर्य यह कि श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म और जीव में केवल स्वगत-भेद है, अन्यथा जीव ब्रह्म का अंग है; जीव अणु और अनेक हैं। इसके विपरीत, द्वैतवाद की मति में परमात्मा और जीव, दो पृथक, वस्तु हैं और उनमें गुण का भी भेद है।

इन मतों के अतिरिक्त एक ऐसा भी वर्ग है, जो जीव को अनादि और अनन्त ही नहीं मानता। उसका कहना है कि जड़ परमाणुओं के संघात से शरीर में चेतनशक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे आत्मा कहते हैं, और शरीर के मरने पर जीवात्मा भी नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त आजकल के तत्त्वज्ञों को भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह एक अटल नियम है कि जो पहिले किसी भी रूप से अस्तित्व में नहीं था, वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता और जड़ पदार्थों के केवल समुच्चय से सत्-चित्-आनन्द रूपी आत्मा का उत्पन्न होना असम्भव है।

जिन आचार्यों ने विविध सम्प्रदाय जारी किये, उनके पश्चात् जो बहुत से महात्मा इस देश में हुए, वे बहुधा अद्वैतवादी ही थे। गोस्वामी तुलसीदास ने भी सिद्धान्त में तो अद्वैत मत को ही ग्रहण किया है; परन्तु श्रीरामजी की भक्ति के हेतु जीव को सेवक और श्रीरामजी को स्वामी कहना उनके लिए अनिवार्य था। इसीलिए उन्होंने अपने रामचरितमानस में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप, ईश्वर का अंश, ब्रह्म का संघाती, निर्गुण, सगुण, कर्ता, अकर्ता, सभी भावों में दर्शाया है।

इस विषय पर भिन्न भिन्न मतों के तर्क-वितर्क के झगड़े में न पड़कर, दृढ़ विश्वास इस बात पर होना चाहिए कि जीवात्मा है और यदि उसे वस्तुतः अथवा अज्ञान के कारण दुःख प्रतीत होता है, तो हमें यह सोचना चाहिए कि उसका कल्याण कैसे हो सकता है।

अध्यापक राष्ट्र की संस्कृति के चतुर माली होते हैं। वे संस्कारों की जड़ों में खाद देते हैं और अपने श्रम से उन्हें सींच-सींचकर महाप्राण शक्तियाँ बनाते हैं।

—महर्षि अरविन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर, रायपुर

आपकी मूर्ति कहाँ है ?

सिकंदर की राजधानी में एक सुंदर बगीचा था। उसमें प्राचीन और विद्यमान पराक्रमी पुरुषों की मूर्तियाँ खड़ी की गई थीं। एक बार सिकंदर की राजधानी देखने के लिए कोई बड़ा विदेशी आया। वह सिकंदर का ही मेह-मान था, अतः उसे शाही अतिथि-गृह में ठहराया गया। सिकंदर उसे अपना शाही बगीचा दिखाने के लिए अपने साथ ले गया। वहाँ रखी हुई मूर्तियों के बारे में मेहमान के पूछने पर कि यह किसकी मूर्ति है, सिकंदर उसके बारे में उचित जानकारी देता। सारी मूर्तियाँ देखने के बाद मेह-मान ने पूछा "महाराज, आपकी मूर्ति कहीं भी दिखाई नहीं दी ?"

सिकंदर ने जवाब दिया, "मेरी मूर्ति यहाँ रखी जाय और फिर अगली पीढ़ी यह प्रश्न करे कि यह मूर्ति किसकी है ? इसकी अपेक्षा मुझे यह अधिक अच्छा लगेगा कि मेरी मूर्ति ही न रखी जाय और लोग पूछें कि सिकंदर की मूर्ति क्यों नहीं है ?"

इंसान का साथ

संत खय्याम एक बार अपने एक शिष्य के साथ बीहड़ वन से जा रहे थे कि उनके नमाज़ पढ़ने का समय हुआ।

वे दोनों नमाज़ पढ़ने के लिए बैठे ही थे कि इतने में उन्हें एक शेर की गर्जना सुनाई दी और वह थोड़ी ही देर में आता हुआ दिखाई दिया। शिष्य बेहद घबरा गया और तुरंत समीप के एक वृक्ष पर चढ़ गया किंतु खय्याम खामोशी से नमाज़ पढ़ने लगे। शेर वहाँ आया और चुपचाप आगे निकल गया। उसके जा चुकने पर शिष्य वृक्ष से उतरा और नमाज़ खत्म होने पर वे दोनों आगे बढ़े। थोड़ी ही देर में संत खय्याम को जब एक मच्छड़ ने काटा, तो उसे मारने के लिए उन्होंने अपने गाल पर चपत लगाई। यह देख वह शिष्य बोला, "गुरुदेव, क्षमा करें; एक शंका है उसका समाधान करें। अभी-अभी थोड़ी देर पूर्व जब शेर आपके समीप आया था, तब आप बिलकुल न घबराये, किन्तु एक मच्छड़ के काटे जाने पर आपको गुस्सा आ गया।" खय्याम ने जवाब दिया, "तुम ठीक कहते हो। किन्तु तुम यह भूल रहे हो कि जब शेर आया था, तब मैं खुदा के साथ था, जब कि मच्छड़ के काटते वक्त एक इंसान के साथ। यही वजह है कि मुझे शेर के आगमन की खबर तक न हुई।"

सरकार की आज्ञा का पालन

सम्राट अकबर के आग्रह पर तानसेन ने अपने गुरु स्वामी हरिदास के संगीत का आयोजन किया। उनके साज-संगीत से अकबर बेहद प्रभावित हुआ। उसने दूसरे दिन तानसेन से कहा, "तू गाता तो अच्छा है, किंतु तेरे रु के गीतों से मुझे जो आनंद प्राप्त हुआ, वह तेरे गीतों

से आज तक कभी प्राप्त न हुआ।" तानसेन ने तपाक से जवाब दिया, "जहाँपनाह, इसमें कोई अचरज की बात नहीं, क्योंकि मेरे गुरुदेव स्वेच्छापूर्वक गाते हैं, जबकि मैं सरकार की आज्ञानुसार।"

भार को सम्मान दो

एक बार नेपोलियन एक महिला के साथ पेरिस में घूमने निकला। वे दोनों एक सँकरे रास्ते से गुजर रहे थे और वह महिला कुछ आगे थी, कि इतने में सामने से एक मजदूर भारी भार लिए आता हुआ दिखाई दिया। महिला को अपने उच्च कुल और धन का गर्व था और इस समय तो वह एक सम्राट् के साथ थी, एक मजदूर के लिए वह कैसे माग छोड़ देती! बीच मार्ग से वह ऐसी चली जा रही थी, मानो मजदूर को उसने देखा ही नहीं। सम्राट् नेपोलियन का ध्यान महिला की ओर था। उसने एक ओर हटकर उस महिला को अपनी ओर खींचा और कहा, "मादाम! पहले भार को सम्मान दो। जिनके सिर पर भार है, चाहे वह भारी गट्ठर हो या हलका, वे सम्माननीय हैं।"

खाली हाथ कैसे लौटा दें?

एक बार महाराज रणजीत सिंह कहीं जा रहे थे कि सामने से एक ईंट आकर उन्हें लगी। सिपाहियों ने चारों ओर नजर दौड़ाई, तो एक बुढ़िया दिखाई दी। उसे गिरफ्तार करके महाराज के सामने हाजिर किया गया।

बुढ़िया महाराज को देखते ही डर के मारे काँप उठी। बोली, "सरकार! मेरा बच्चा कल से भूखा था। घर में खाने को कुछ न था। पेड़ पर पत्थर मार रही थी कि कुछ बेर तोड़कर उसे खिलाऊँ, किंतु वह पत्थर भूल से आपको आ लगा। मैं बेगुनाह हूँ; सरकार, मुझे क्षमा किया जाय।"

महाराज ने कुछ देर सोचा और बोले, "बुढ़िया को एक हजार रुपये देकर ससम्मान छोड़ दिया जाय।"

यह सुन सारे कर्मचारी स्तंभित रह गये। आखिर एक ने पूछा ही, "महाराज! जिसे दंड मिलना चाहिए, उसे रुपये दिये जाएँगे?"

रणजीत सिंह बोले, "यदि निर्जीव वृक्ष पत्थर लगने पर मीठे फल देता है, तो पंजाब का महाराज उसे खाली हाथ कैसे लौटा दे!"

सच्चा प्रेम

मुहम्मद पैगंबर ने एक बिल्ली पाल रक्खी थी, जिसका नाम उन्होंने रखा था 'मुएजा'। उसपर उनका दिलोजान प्रेम था। एक बार उनके नमाज का वक्त हुआ, तो वे अपनी चटाई लाने गये। देखा कि उनकी बिल्ली चटाई पर सोयी हुई है। उनके सामने समस्या उपस्थित हुई। नमाज पढ़ने के लिए चटाई लेकर जाना था, मगर उसपर 'मुएजा' सोयी हुई थी और यदि उसे ले जाएँ तो उसकी निद्रा भंग हो जाएगी। उन्हें एक तरकीब सूझी। वे एक चाकू ले आये और जितने हिस्से पर वह बिल्ली सोयी थी, उतना हिस्सा काटकर शेष चटाई को लेकर वे नमाज के लिए मस्जिद गये।

मनुष्य के प्रकार

प्रवचन के उपरांत एक जिज्ञासु राजा ने भगवान् बुद्ध से प्रश्न किया, "महाराज, आपने अभी-अभी ही कहा कि मनुष्य चार प्रकार के होते हैं, कृपया इसे समझाएँ !"

भगवान बुद्ध ने उत्तर दिया, "मनुष्य चार प्रकार के होते हैं — एक, तिमिर से तिमिर में जाने वाला; दूसरा, तिमिर से ज्योति की ओर जाने वाला; तीसरा, ज्योति से तिमिर की ओर जाने वाला और चौथा, ज्योति से ज्योति में जाने वाला ।

"राजन् ! यदि कोई मनुष्य चांडाल, निषाद आदि हीन कुल में जन्म ले और जन्मभर दुष्कर्म करने में बिताये, तो उसे मैं 'तिमिर से तिमिर में जाने वाला' कहता हूँ ।

"यदि कोई मनुष्य हीन कुल में जन्म ले तथा खाने-पीने की तकलीफ होने पर भी मन – बचन – कर्म से सत्कर्म का आचरण करे, तो मैं ऐसे मनुष्य को 'तिमिर से ज्योति में जाने वाला' कहता हूँ ।

"यदि कोई मनुष्य महाकुल में जन्म ले, खाने-पीने की कमी न हो, शरीर भी रूपवान और बलवान हो, किंतु मन-वचन तथा काया से वह दुराचारी हो, तो मैं उसे 'ज्योति से तिमिर में जाने वाला' कहता हूँ ।

"किंतु जो मनुष्य अच्छे कुल में जन्म लेकर सदैव सदाचरण की साधना करता हो, तो मैं उसे 'ज्योति से ज्योति में जाने वाला' मनुष्य मानता हूँ ।"

आस्तिक दर्शन

प्राध्यापक ब्रजबिहारी निगम, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, इन्दौर

भारतवर्ष विचारों की संघर्ष-भूमि रहा है। भारतीय दर्शन के इतिहास में विचारों की स्वतंत्रता एवं विपक्षी के ति सम्मान की भावना प्रतिष्ठित है। वैदिक-विचार-परंपरा में, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि वेदबाह्य विचारकों ने, अपने क्रांतिकारी एवं सुधारक दृष्टिकोण से, हिंदू विचारकों को अपने विचार और व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन के लिये प्रेरित किया। अब, वैचारिक वातावरण में, वेदों के प्रति केवल श्रद्धा से काम चलने वाला नहीं था, आवश्यकता थी, वैदिक ऋषियों के प्रज्ञामूलक विचारों को गठित कर तर्क की ठोस भूमि पर खड़ा किया जाये।

ईसापूर्व पाँच सौ से दो सौ के काल में वैदिक-परंपरा में चली आ रही भिन्न भिन्न चिंतन-धाराओं को सूत्र रूप में रखने का प्रयास किया गया। न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, सांख्य के कपिल, योग के पतंजलि, मीमांसा के जैमिनि एवं वेदांत के सूत्रकार बादरायण व्यास थे। इन सूत्रकारों ने भिन्न भिन्न चिंतन-धाराओं का प्रतिनिधित्व किया एवं पूर्वपक्ष का खंडन करते हुए अपने अपने मत का तर्कपुष्ट मंडन प्रस्तुत किया। इन सूत्रों की शैली तो एक है, परंतु, प्रतिपाद्य सिद्धांत अलग अलग हैं। वेदों को प्रमाण मानने के कारण ये सभी आस्तिक दर्शन कहलाते

हैं। भारतीय दर्शन में 'आस्तिक' शब्द का अर्थ न तो 'ईश्वर की सत्ता मानने' न पाणिनि के अनुसार 'परलोक की सत्ता में विश्वास' है। मनु ने 'नास्तिक' का अर्थ वेदनिंदक किया है। इस तरह 'वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास' ही 'आस्तिक' का अर्थ है।

आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत इन षड्-दर्शनों के अलावा दशम शताब्दी के सर्वदर्शन-सिद्धांत-संग्रह नामक ग्रंथ में महाभारत दर्शन का भी उल्लेख है। उसी प्रकार १४ वीं शताब्दी के माधवाचार्य विरचित ग्रंथ सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर एवं पाणिनि दर्शनों का भी समावेश किया गया है। परंतु न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदांत ही आस्तिक दशन के रूप में सर्वमान्य हैं।

कपिल आदि ऋषिगण इन दर्शनों के केवल सूत्रकार हैं, मूल-प्रवर्तक नहीं। सूत्रों में, चली आ रही परंपरा एवं आचार्यों का ससम्मान नामोल्लेख है, इसका आशय यह है कि इन सूत्रकारों के पूर्व जो वैदिक चिंतन-धारा चली आ रही थी उसे केवल सूत्र-रूप में अभिव्यक्त करने का श्रेय इनको है। यथेष्ट प्रमाणों के अभाव में इन ऋषियों का काल-निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु शताब्दियों से ये सूत्र उपर्युक्त नामों से संबंधित रहे हैं। विद्वान् लोग इनका रचनाकाल बिक्रमपूर्व ४०० से २०० मानते हैं, परंतु सूत्रकारों के सबंध में वे अभी भी मौन हैं।

इन सूत्रों की रचना अर्थपूर्ण, असंदिग्ध एवं अनवद्य अल्पाक्षरों में की गई है। बिना भाष्यों की सहायता के

इन्हें समझ पाना नितान्त कठिन है। यही कारण है कि सूत्रों के निर्माण के बाद भाष्यकार एवं वार्तिककार आचार्यों की एक लंबी परंपरा चल पड़ी है। शबर, शंकर, कुमारिल, उदयन, वाचस्पति, रामानुज इत्यादि इसी परंपरा के आज्वल्यमान नक्षत्र हैं। एक ही सूत्र पर अलग अलग भाष्यकारों ने भिन्न भिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। भाष्यों पर भी भाष्य एवं टीका लिखने की परंपरा रही है। ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर वाचस्पति की 'भामती' एक भव्य टीका है, एवं चित्सुखाचार्य के समकालीन अमलानंद की कृति, 'कल्पतरु', 'भामती' पर सरस एवं सुबोध टीका है। परन्तु इस प्रकार से भाष्यों पर टीका करते रहने में आचार्यों ने न तो अपनी मौलिकता को खोया, न ही वे मूल-सिद्धान्तों से भटके। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र गूढ़ रहस्य के शाश्वत भंडार हैं जिसमें जब कोई ज्ञान-पिपासु अपनी तुष्टि करता है तो वह भी अपने आप में ज्ञान का नया अक्षय भंडार हो जाता है।

इन सूत्रों में एक ओर तो वेद के प्रति आस्था एवं दूसरी ओर अपने सिद्धान्तों को तर्क की कठोर नींव पर खड़ा करने की प्रवृत्ति है। परंतु तर्क ऐसा चतुर एवं कठोर मार्गदर्शक है कि जहाँ एक बार उसका सहारा लिया कि फिर वह जहाँ तक ले जाये वहीं तक जाना पड़ता है। सूत्रों को तर्कमूलक बनाने का एक निष्कर्ष यह निकला कि तर्क परिपुष्ट सिद्धान्तों को तो मान लिया गया' परन्तु आस्था पर अवलंबित ईश्वर को कई सूत्रकारों ने मान्य नहीं किया।

सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा निरीश्वर चिंतन-प्रणालियाँ हैं। योग, पुरुषविशेष को ईश्वर; न्याय, केवल अनुमान के निष्कर्ष के रूपमें; और अद्वैत वेदांत ईश्वर को माया का सहयोगी-मात्र मानता है। अतः आस्तिक दर्शनों में ईश्वर को मानने, न मानने के संबंध में कोई आग्रह नहीं है। सत्यानुसंधान में बुद्धि जहाँ तक ले जाये, जाना चाहिये। परंतु, सूत्रकार तर्क की सीमाओं से भली भाँति परिचित थे। तर्क मनुष्य की अनुभवक्षमता एवं भाषा की सीमाओं में बँधा रहता है; इस कारण, सीमित से अनंत, क्षणिक से शाश्वत एवं विभक्त से अविभक्त की ओर जाने में प्रजा या अपरोक्षानुभूति ही सहायक हो सकती है। सूत्रों का वेदों को प्रमाण मानने का अर्थ ही यह है कि तर्क ही सब कुछ नहीं है, अपरोक्षानुभूति के लिए श्रद्धा एवं प्रज्ञा की सहायता अपरिहार्य है। एतदर्थ,सूत्रों में अविद्या से मुक्तिके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन का निर्देश है। यहाँ तक कि शारीरिक एवं मानसिक संयमन के लिये योगसूत्रों में निर्दे-शित योगांगों का अभ्यास सभी सूत्रकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अतः ये सूत्र मनुष्य को स्वतंत्रचेता होने एवं रुचि अनुकूल अपरोक्षानुभूति के लिये प्रेरित करते हैं।

यहाँ यह बात माननीय है कि इन सूत्रों में मोक्ष-प्राप्ति के समर्थन के साथ ही दुःखत्रय से अत्यन्त-निवृत्ति को भी ओझल नहीं होने दिया। वास्तव में जीवन का यह व्यावहारिक पक्ष ही मनुष्य को दार्शनिक चिंतन की ओर प्रेरित करता है। भारतीय चिंतनधारा में दर्शन की उपज

आश्चर्य में न होकर उन सांसारिक समस्याओं में ही है जो मनुष्य की उत्तरोत्तर प्रगति में बाधक बनकर खड़ी रहती हैं। सांख्य में दुःखत्रय से निवृत्ति के लिये ही जिज्ञासा प्रारंभ होती है। योग केवल वर्तमान कष्टों से ही मुक्ति की बात नहीं करता, वरन् अनागत दुःख को भी हेय समझता है। सभी दर्शन इस व्यावहारिक पक्ष के प्रबल समर्थक हैं।

इन सूत्रों में बिचारों का वैकासिक-क्रम भी देखा जा सकता है। न्याय एवं वैशेषिक बहुत्व के समर्थक हैं, सांख्य और योग द्वैत के, जब कि वेदांत अद्वैत का। यों भी कहा जा सकता है कि वैशेषिक के विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक अनेक-तत्ववाद के बाद सांख्य के भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक विकासवादी द्वैतवाद की परिणति आध्यात्मिक एवं प्रज्ञा-मूलक वेदांत के एक सत्य में है। यद्यपि यह क्रम ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार तो ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु वैचारिक दृष्टिकोण से ठीक लगता है। इन दर्शनों का अति संक्षिप्त विवरण इसी क्रम में प्रस्तुत करते हैं।

न्याय सूत्र के रचयिता गौतम हैं। इन सूत्रों की संख्या ५३८ है जो कि पाँच अध्यायों में विभक्त हैं। न्याय का व्यापक अर्थ प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा है। विशिष्ट अर्थ में न्याय का आशय परार्थानुमान में प्रयुक्त प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय एवं निगमन से है। प्रमाणों का विषद अध्ययन ही न्याय की विशेषता है। ईश्वर केवल निमित्त कारण है। न्याय कुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने ईश्वर की सिद्धि के लिए कई युक्तियाँ दी हैं। ईश्वर पदार्थों

से योजनापूर्वक सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार न्याय असत्-कार्यवाद का समर्थक है। आत्मा द्रष्टा, ज्ञाता एवं भोक्ता पदार्थ है। दुःख से विमोक्ष ही मुक्ति है। वात्स्यायन, उद्योतकर, उदयनाचार्य, गंगेश इत्यादि इसके प्रसिद्ध आचार्य हैं।

वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार कणाद हैं। इसमें १० अध्यायोंमें विभक्त ३७० सूत्र हैं। इस दर्शन को काणाद तथा औलुक्य दर्शन भी कहते हैं। यह परमाणुवाद का समर्थक है। पदार्थ-मीमांसा में विशेष नामक पदार्थ का समावेश करने के कारण यह वैशेषिक दर्शन कहलाता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव नामक सात पदार्थ हैं। द्रव्यों में जल, पृथ्वी के साथ आत्मा एवं मन भी द्रव्य हैं। सूत्रों में स्पष्ट रूप से कहीं भी ईश्वर की सत्ता का निर्देश नहीं है। परमात्मा केवल एक विशेष प्रकार की आत्मा है, जिसमें सृष्टि-निर्माण की क्षमता है। कणाद ने धर्म की व्याख्या करना अपना उद्देश्य रखा है। धर्म से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। अहिंसा, अस्तेय आदि सामान्य धर्म हैं, जब कि वर्णानुसार कर्त्तव्य कर्म करना विशेष धर्म है। प्रशस्तपाद का पदार्थ-धर्म-संग्रह एक मौलिक ग्रन्थ है, जिसपर उदयन, वल्लभ, पद्मनाभ इत्यादि ने टीकाएँ लिखी हैं।

सांख्य दर्शन में ५२७ सूत्र हैं जो कि ६ अध्यायों में विभक्त हैं। इसके सूत्रकार कपिल हैं। वैशेषिक की तरह सांख्य भी अत्यन्त प्राचीन विचार-प्रणाली है, जिसके

उदाहरण बौद्ध साहित्य में उपलब्ध हैं। अश्वघोष के बुद्ध-चरित में सिद्धार्थ सांख्याचार्य आराड़-कालाम के पास शिक्षा ग्रहण के लिये जाते हैं। कुछ विद्वान सांख्य एवं बुद्ध दर्शन में कतिपय समानताओं—जैसे, दुःख की सत्ता पर जोर देना, ईश्वर की सत्ता न मानना, निरपेक्ष सत्य का विरोध, जगत्की सत्तामें परिणामवाद की प्रधानता—के कारण, कभी तो बौद्ध दर्शनको सांख्य का एवं कभी सांख्यको बौद्ध दर्शन का ऋणी बताते हैं। परन्तु सांख्य में गुणों का सिद्धान्त अत्यन्त ही विलक्षण होने के कारण कीथ इस निष्कर्ष पर आये कि बौद्ध एवं सांख्य, दोनों प्राचीन हैं, एवं वे वैदिक परंपरा को समझने के दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। सांख्य प्रकृति एवं पुरुष की द्वैत सत्ता में विश्वास रखता है। पुरुष चैतन्य परन्तु पंगु है, प्रकृति में कर्तृता है परन्तु वह अंधी है। पुरुष की सन्निधि-मात्र से प्रकृति में गुण-वैषम्य होता है एवं सृष्टि का विकास प्रारंभ होता है। पुरुष अविकारी कूटस्थ, नित्य एवं त्रिगुणातीत है। प्रकृति का विकास पुरुष के भोग एवं कैवल्य के लिये होता है। सांख्य को पुरुष सहित २५ तत्त्व मान्य हैं। सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त से इसके मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। सांख्य अनीश्वरवादी सिद्धांत है। कैवल्य-प्राप्ति ज्ञान से ही संभव है। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है। ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका, वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी, विज्ञानभिक्षु का सांख्यप्रवचनभाष्य बड़े ही आदृत ग्रंथ हैं।

योगदर्शन के सूत्रकार पतंजलि हैं। इसमें समाधिपाद, साधनपाद, त्रिभूतिपाद एवं कैवल्यपाद में विभाजित १९४ सूत्र हैं। योग ने तत्त्वविचार तो सांख्य का ही ग्रहण किया, परन्तु पुरुष-विशेष को ईश्वर कहने की कल्पना मौलिक है। इस कारण यह सेश्वर-सांख्य भी कहलाता है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यौगिक प्रक्रियाएँ हैं। यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि से शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि तो होती ही है, परंतु ये कैवल्य के साधन भी हैं। विभूतिपाद में सिद्धियों का बड़ा आकर्षक वर्णन है। यौगिक क्रियाओं से रूप, लावण्य, बल, मनोजवित्व, विक-रण भाव, प्रधानजय आदि सिद्धियों की प्राप्ति संभव है। परंतु इन सिद्धियों की प्राप्ति कैवल्य के सामने हेय है। ये मोक्ष-मार्ग के केवल पथचिन्ह हैं। योगदर्शन की प्रक्रियाओं ने शताब्दियों से सांसारिक एवं पारमार्थिक साधकों को प्रभावित किया है। आज तो पाश्चात्य जगत् भी योग की उपलब्धियों से चकित है। व्यास का व्यासभाष्य, वाचस्पति की तत्त्व-वैशारदी, विज्ञान भिक्षु का योगवार्तिक इसके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

मीमांसा के सूत्रकार जैमिनि हैं। इसमें २६५४ सूत्र ९०९ अधिकरणों में विभक्त हैं। इसका उद्देश्य वेदविहित कर्मों की मीमांसा है। दर्शन का उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। धर्म वेदवाक्यों द्वारा प्रतिपादित विधि है, जैसे, स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे। मीमांसा में तीन विशिष्ट मत हैं, भाट्टमत के उद्भावक कुमारिल हैं, गुरुमत के

प्रभाकर, एवं मुरारीमत के मुरारि मिश्र। वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान से जिस अपूर्व का संपादन होता है, वही हमारे भविष्य का निर्णय करता है। इस कारण हमारे जन्म-मरण का कर्त्ता हमारा अपूर्व है, न कि ईश्वर। कुमारिल आत्मा को चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते, परंतु चार्वाकों की तरह चैतन्य-विशिष्ट देह ही मानते हैं। आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता है। वेदविहित कर्मों को कर्तव्य समझकर करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। शबर, कुमारिल प्रभाकर, मुरारि मिश्र मीमांसा के समादृत आचार्य हैं।

वेदांत का अर्थ है वेदों का अंत अर्थात् उपनिषद्। वेदांत-सूत्रों के मूल आधार उपनिषद् हैं। ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार बादरायण व्यास हैं। इसमें ५५० सूत्र चार पादों में विभक्त हैं। ब्रह्मसूत्र पर सर्वाधिक भाष्य एवं टीकाएँ हुई हैं। शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बलदेव, विज्ञान-भिक्षु, भास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकंठ, वल्लभ न केवल प्रसिद्ध भाष्यकर्त्ता हैं, परंतु अपने अपने स्वतंत्र मतों के प्रतिपादक भी हैं। अकेले अद्वैत पर ही इतने भाष्यों एवं टीकाओं का निर्माण हुआ है कि अन्य किसी दर्शन का कुल मिलाकर इतना साहित्य नहीं है। शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत, विज्ञान भिक्षु का अविभागाद्वैत, भास्कर का भेदाभेद इत्यादि अनेक मत इन आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्यों में प्रतिपादित किये। वेदांत-दर्शन की शाखा में दर्शन एवं धर्म का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। उपर्युक्त

आचार्यों के नाम से अपने अपने धार्मिक संप्रदाय हैं, जिनके अनुयायियों की भारत में कोई कमी नहीं। परंतु देश और विदेश में दर्शन के शुद्ध स्वरूप में अद्वैत वेदांत ही अधिक समादृत हुआ है। रामानुज, मध्व, निम्बार्क भक्ति के दार्शनिक हैं। अद्वैत का ब्रह्म निर्गुण एवं सत्य, ज्ञान और आनंद स्वरूप है जो कि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद से परे है। रामानुज का ब्रह्म सगुण है, जिसके जड़ एवं जीव अंश हैं। इसमें सजातीय, विजातीय भेद तो नहीं, परन्तु स्वगत भेद अवश्य है। शंकर विवर्त-वाद या अनिर्वचनीयवाद के समर्थक है, जिसके अनुसार जगत् माया का तो परिणाम हैं, परन्तु ब्रह्म का विवर्त है। रामानुज परिणामवाद के समर्थक हैं, जिसके अनुसार जीव एवं जड़ ब्रह्मके अंश हैं। इस प्रकार इन आचार्यों ने अपने भाष्यों में जड़, जगत, ईश्वर, मुक्ति, उपास्यदेव इत्यादि के संबंध में भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आस्तिक दर्शन हमारी राष्ट्रीय चिंतनधारा के भिन्न भिन्न स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें जहाँ एक ओर मोक्ष के विचार को प्रधानता दी है, वहीं पर दैनिक जीवन में आने वाले दुःखों से निवृत्ति पर भी अत्यधिक जोर दिया है। विचार स्वातंत्र्य एवं भिन्न विचारों के प्रति समादर का प्राचीनकाल से ही जितना उदात्त स्वरूप भारतीय दर्शन में उपलब्ध होता है, उतना शायद और कहीं नहीं।

—आकाशवाणी, भोपाल-इन्दौर के सौजन्य से।

प्रेम का मार्ग

श्रीमत् स्वामी वन्दनानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन, अमेरिका

योगविद्या में प्रेम या भक्ति का स्थान सर्वोपरि है। तब फिर कर्म और ज्ञान का क्या महत्त्व है? क्या ये भक्ति के समकक्ष नहीं हैं? नहीं, ये भक्ति की बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि ईश्वर को प्राप्त करने के इन दोनों मार्गों में भी प्रेम की बड़ी महत्ता है।

मानलो एक मनुष्य कोई काम करता है। यदि उसे ईश्वर को पाने की इच्छा न हो तो क्या उसके कार्य उसे ईश्वर की ओर ले जाएँगे? ऐसा भला क्यों होगा? हमें खुद से पूछना चाहिये, "क्या हम ईश्वर को पाना चाहते हैं? क्या हम उनसे अपना नाता जोड़ना चाहते हैं? क्या हमारा मन उनमें डूब जाना चाहता है?" अगर ऐसा होता है तभी हमारे कार्य हमें ईश्वर की ओर ले जाते हैं। इसलिये जब हम अपने को कर्मयोगी कहते हैं तब हम प्रेम की भावना को पहले से ही मानकर चलते हैं।

ज्ञान-मार्ग के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। हम सांसारिक बातों का ज्ञान पढ़कर, देखकर या सुनकर प्राप्त करते हैं। केवल किताबों के पढ़ने से ही ज्ञान नहीं मिल जाता। इससे तो किसी वस्तु के सम्बन्ध में जानने की इच्छा और भी बढ़ती है। इसलिये हम कक्षाओं में जाते हैं, शिक्षकों और जानकारों की बातें सुनते हैं। हम पढ़कर

जो धारणा बना लेते हैं उन्हें शिक्षक या तो अनुमोदित करते हैं या सुधारते हैं। शिक्षकों और किताबों से हमें जो जानकारी मिलती है, उसकी हमें जाँच करनी पड़ती है और उसे हृदयस्थ कर अपने जीवन में उतारना पड़ता है। इसविधि से हम वैयक्तिक अनुभूति प्राप्त करते हैं। यही यथार्थ ज्ञान है।

ईश्वर क्या है? क्या हम उसके बारे में कुछ जान सकते हैं? क्या वह हमारा पिता है या माता है? या, क्या वह निराकार है? बहुत से लोग सोचते हैं कि वे केवल धर्मग्रन्थों को पढ़कर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वे यह नहीं जानते कि उन्हें दो कदम और चलना है। पहले उन्हें धर्मग्रन्थों को समझने के लिये गुरु के पास जाना चाहिये और फिर उनसे जिस सत्य का निर्देश मिलता है उसकी प्राप्ति में अपने जीवन को लगा देना चाहिये। अंत में, जब वे ईश्वर का दर्शन कर लेते हैं तभी उन्हें ईश्वर का ज्ञाता कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि "मैंने ईश्वर से साक्षात्कार किया है, उसको देखा है", तब किस बात की पूर्वधारणा की जाती है? प्रेम की। हम बिना ईश्वर से प्रेम किये उससे साक्षात्कार नहीं कर सकते। यह सर्वथा असम्भव है।

और यदि हममें प्रेम है तो अन्य सभी चीजें हमारे पास अनायास आ जाती हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों में प्रेम समान रूप से विद्यमान रहता है। तो क्या, इन दोनों से भिन्न प्रेम का कोई तीसरा मार्ग भी है? हाँ, एक

ऐसा भी मार्ग है जहाँ कर्म और ज्ञान गौण होते हैं और प्रेम प्रधान होता है। हम गौण प्रेम के साथ प्रेम के पथ पर चलना शुरू करते हैं और परम ईश्वरीय प्रेम को प्राप्त करके रुक जाते हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गयी कि हम किसी भी पथ से क्यों न चलें पर सभी में प्रेम और उसकी साधना का बड़ा महत्त्व है। किस व्यक्ति को किस योग की साधना करनी चाहिये यह जानना जरूरी नहीं है। हम लोगों ने जब मठ में दीक्षा ली थी तब हमें इन बातों की चिन्ता नहीं थी। वरिष्ठ साधुओं ने भी हमें योगों के सम्बन्ध में नहीं बताया था। उन्होंने कहा था, "तुम लोग यहाँ ईश्वर का साक्षात्कार करने आये हो। तुम लोग मठ में साधुओं के सत्संग में रहते हो। यही पर्याप्त है।" हमें कोई मार्ग नहीं बताया गया था। यह नहीं कहा गया था कि "तुम अमुक प्रकार के व्यक्ति हो और तुम्हें अमुक रास्ता अपनाना पड़ेगा। हमें कहा गया था, "पूजाघर में जाओ। वहाँ भगवान् विद्यमान हैं उनका ध्यान करो।।"

किन्तु हम ईश्वर को खोजने के लिए पूजा घर में क्यों जायें ? क्या वे सभी स्थानों में रमे हुए नहीं हैं ? यह सत्य है कि वे पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं किन्तु पूजाघर में वे विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं और मन वहाँ बड़ी सरलता से उनमें लीन हो जाता है। पूजाघर का एकमात्र प्रयोजन मन को एकाग्र करना है। यदि कोई नया साधक ध्यान के आरंभिक अनुशासन को नहीं मानता, यदि वह ईश्वर के अनेक

दिव्य रूपों में से किसी एक रूप पर अपने मन को एकाग्र नहीं करता और ईश्वर को सभी स्थानों में देखने का प्रयत्न करता है तो उसका मन बहुत बिखर जाता है और ईश्वर उसके लिए अयथार्थ ही बने रहते हैं।

बहुत से निच्छल और अच्छे व्यक्ति ऐसा भी कहते हैं कि "हम यथार्थ और सत्य को मानते हैं। हमें किसी मंदिर या गिरजाघर में जाकर ध्यान करने की जरूरत नहीं है।" इनमें से बहुत से व्यक्ति इसप्रकार के गूढ़ विचारों से उलझने के बाद यह महसूस करते हैं कि उनकी कोई उन्नति नहीं हो रही है और वे ईश्वर को जानने की चेष्टा करना ही छोड़ देते हैं। इसीलिये अनेक धर्मगुरुओं ने भक्ति के मार्ग को सबसे सुगम बताया है। ईश्वरके साथ साक्षात्कार करने की इच्छा और उनकी भक्ति प्राप्त करने के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु और आधुनिक काल में श्रीरामकृष्णदेव जैसे महान् हिन्दू संतों ने प्रभु के नाम-स्मरण के अभ्यास पर बड़ा जोर दिया है। इससे हमारे मन में ऐसी लगन और भक्ति उत्पन्न होती है जो हमें ईश्वर से मिला सकती है।

वेदान्त में सर्वोच्च ईश्वरानुराग को ही प्रेम कहा गया है। इस प्रेम के तीन लक्षण हैं। सबसे पहला लक्षण यह है कि यह पूरी तरह से स्वार्थहीन होता है। इसमें अधिकार या एकांतिकता के लिये कोई जगह नहीं होती। किसी भी मानवीय सम्बन्ध में हम व्यक्ति के जितने समीप जाते हैं उसपर उतना ही अधिकार पाना चाहते हैं। हम सोचते हैं,

"क्या वह अपने प्रेम का कुछ भाग दूसरों को भी देता है? या, वह पूरा केवल मेरा ही है ?" हममें से बहुत से लोग यह चाहते हैं कि "वह पूरी तरह से मेरा हो—मेरा ही हो !" यह विचार हमें आनन्दित करता है। यदि हमें इस बात का थोड़ा भी ज्ञान हो जाये कि वह व्यक्ति किसी दूसरे से प्यार करता है तो हमारा प्रेम विक्षुब्ध हो उठेगा।

जब तक हम ईश्वर की भक्ति करने के साथ ही उनसे अपनी मनचाही वस्तुएँ प्रदान करने के लिये प्रार्थना भी करते हैं, तब तक उत्कट भक्ति का उदय नहीं होता। अतः यदि हम प्रेम की चरमावस्था तक पहुँचना चाहते हैं तो हमें अपनी स्वार्थपरता को पूरी तरह से छोड़ देना होगा। हमें ईश्वर को किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं बनाना चाहिये। ईश्वरानुराग का केवल एक मंत्र है—"भगवान् से उन्हीं के लिये प्रेम करो।"

तब हमारी जरूरतों का क्या होगा? कष्टों,शत्रुओं और आशंकाओं का क्या होगा ? क्या हमें अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिये ? नहीं, यह जरूरी नहीं है। उच्च कोटि का भक्त यह अनुभव करता है कि वह ईश्वर से जुड़ा हुआ है, और ईश्वर उससे प्रेम करते हैं तथा उसकी देखभाल करते हैं।

हमारे लिये स्वयं भगवान ने प्रतिज्ञा की है कि वे हमारी रक्षा करेंगे और हमारा पोषण करेंगे। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "जो व्यक्ति मेरी पूजा करता है और प्रत्येक क्षण को मुझीं में लगाते हुए स्थिर चित्त से मेरा ध्यान करता

है, मैं उसके पास जो नहीं है उसका वहन करता हूँ और जो है उसकी रक्षा करता हूँ।" यहाँ 'वहन' शब्द आया है। भगवान् इच्छित वस्तु प्रदान नहीं करते अपितु उसे सेवक के समान उसके पास ले जाते हैं। इस प्रतिज्ञा की सत्यता भक्तों के जीवन में अनेक बार सिद्ध हो चुकी है।

हमारे एक प्रसिद्ध पुराण में एक दरिद्र ब्राह्मण-दम्पति की कथा आती है। ब्राह्मणी का गीता में की गई इस प्रतिज्ञा पर संदेह था कि भगवान् अपने भक्तों का पोषण करते हैं। वह निरन्तर अपने पति को उलाहना दिया करती थी, "यह कैसे सच हो सकता है? हमारी ओर देखो। हम पेट भरने के लिए कितनी कठिनाई से जुटा पाते हैं।" उसका पति कहा करता था, "मैं इस बात की शंका नहीं कर सकता कि ईश्वर हैं या नहीं, या उनकी प्रतिज्ञा सच है या नहीं। मैं तो उनसे प्रेम करता हूँ। यदि उन्हें ऐसा लगे कि हमें कोई अभाव है तो वे उसकी पूर्ति कर देंगे।" उस धर्मात्मा ब्राह्मण को किसी प्रकार का संदेह नहीं था। वह ईश्वर के वचनों की सत्यता को परखने की जरूरत नहीं समझता था। किन्तु उसकी पत्नी इतनी भक्तिमती नहीं थी और वह भगवान् की परीक्षा लेना चाहती थी। इसलिये ब्राह्मण ने उससे कहा, "अच्छी बात है। यदि तुम्हें किसी चीज की जरूरत हो तो भगवान् से प्रार्थना करो और देखो कि वे तुम्हें वह वस्तु प्रदान करते हैं या नहीं।" इसके बाद ही एक घटना घटी। जब ब्राह्मण घर पर नहीं था तब भगवान् स्वयं उसके घर आये और ब्राह्मणी के सामने

उनकी जरूरत की वस्तुओं को रखकर चले गये। जब उसका पति वापस घर लौटा तब ब्राह्मणी ने बताया कि एक अजनबी आया था और वह उनके लिये अन्न इत्यादि वस्तुएँ रख गया है। धर्मात्मा ब्राह्मण तत्काल यह जान गया कि भगवान् स्वयं वहाँ आये थे। जब उसने अपनी पत्नी को यह बताया तब वह चकित होकर बोली, "क्या वे भगवान् थे ? वह अजनबी तो सामान्य व्यक्तियों के समान था। भगवान् जब मनुष्यों को दर्शन देते हैं तो उनमें कोई विशेषता तो होनी ही चाहिये !" हमें सदैव तैयार रहना चाहिये क्योंकि हम यह नहीं जानते कि भगवान् हमारे पास कब और किस रूप में आएँगे। किन्तु हाँ, यह अवश्य है कि हम भगवान् को जिस रूप में भजते हैं, वे हमें सामान्यतः उसी रूप में दर्शन देते हैं। इसीलिए ईश्वर के किसी विशिष्ट रूप पर ध्यान करने के अभ्यास की बड़ी महत्ता है। जब हम सुदीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करके अपने मन को इष्टदेव में जमा लेते हैं तब हमें इष्टदेव के प्रति एकान्तिक भक्ति की उपलब्धि होती है। और जब हम इस प्रकार की भक्ति में पूरी तरह से डूब जाते हैं तभी वे हमें दर्शन देते हैं।

भगवान् अनन्त हैं। उनके अनन्त रूप और पहलू हैं। किन्तु यदि हम भगवान् को उनके किसी एक रूप में देख लें तो हम उनको पूरी तरह से जान लेते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "यदि कोई व्यक्ति गाय के सींग को, या उसके पैर को, या उसकी पूँछ को, या उसके थन को छूता

है तो क्या यह गाय को ही छूना नहीं होगा ? हम मानवों के लिये तो गाय का दूध ही महत्त्वपूर्ण है जो उसके थन से निकलता है। इसीप्रकार ईश्वरीय अवतारों से ईश्वरीय प्रेम की दुग्ध-धारा हम तक पहुँचती है।

"भगवान् हमारे बीच स्वेच्छा से मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं और ईश्वरीय प्रेम का प्रकाशन करते हैं। ईश्वर के अवतार सत्य हैं। इस सत्य को शब्दों से नहीं समझाया जा सकता। इस सत्य की प्रतीति आध्यात्मिक-चक्षुओं से ही हो सकती है। इस बात को समझने के लिये ईश्वर का दर्शन करना जरूरी है।"

भगवान् के किसी एक रूप या उनके किसी एक पहलू से प्रेम करना ही प्रेम का मार्ग है। जब हम उनसे पवित्र एवं निःस्वार्थ भाव से प्रेम करना सीख लेते हैं तब हमें अपने प्रति उनके प्रेम की अनुभूति होती है।

जब हम ईश्वर से अनन्य भाव से प्रेम करते हैं तब हम जान लेते हैं कि जो हमारे इष्टदेव हैं वे दूसरों के इष्टदेव भी हैं। हम देखते हैं कि सभी एक ही भगवान् से प्रेम कर रहे हैं किन्तु हमें किसी से ईर्ष्या नहीं होती। इसके विपरीत, यदि हमारी भक्ति सच्ची है तो हम चाहते हैं कि सभी भगवान् से प्रेम करें और दिव्यानन्द प्राप्त करें। हमें इस विचार से आनन्द मिलता है कि भगवान् अपने सभी प्राणियों से प्रेम करते हैं। जब हम भगवान् से ऐसा प्रेम करते हैं तो हमारे जीवन से पूरी स्वार्थपरता निकल जाती है और हम मुक्ति और आनन्द का भोग करने लगते हैं। किन्तु

यदि हम किसी अन्य वस्तु से प्रेम करते हैं तो हम मोह और ममता के द्वारा बाँध लिये जाते हैं। ममत्व के साथ प्रेम की वस्तु के खोने का भय भी उदित होता है।

इस प्रकार हम ईश्वर के प्रति परम प्रेम के दूसरे पक्ष पर आते हैं। हमें ईश्वर को खोने का भय करने की जरूरत नहीं। जीवन की सभी वस्तुओं में बिछुड़न का डर बना रहता है, फिर चाहे वह स्वास्थ्य हो, या धन हो, या व्यक्ति हो। कोई वस्तु हमारे पास कितने ही समय से क्यों न हो पर हम यह नहीं कह सकते कि वह सदा हमारे ही पास रहेगी। साधारण तौर पर हम इस चिन्ता को प्रकट नहीं करते किन्तु यह हमारे अचेतन मन में सदैव डोलती रहती है। इस चिन्ता को छिपाने के लिये कभी-कभी हम अधिकाधिक प्रेम का दिखावा भी करते हैं। किसी व्यक्ति का प्रेम पाने के लिये हम कृत्रिम बन जाते हैं और इस प्रकार अपने प्रेमास्पद को खो देते हैं। अतः मानवीय भूमिका पर खोने का डर सदैव बना रहता है। किन्तु हम ईश्वर के सम्बन्ध में पूरी तरह से निश्चिन्त और उपराम हो सकते हैं क्योंकि हम उन्हें कभी नहीं खोएँगे।

मठ के एक वरिष्ठ स्वामीजीने मुझे यह बात बतायी थी। श्रीरामकृष्णदेव के एक शिष्य ने उन्हें यह उपदेश दिया था, "तुम जहाँ भी रहो, भगवान् को अपना बनाकर रखो। तब तुम किसी स्थान या व्यक्ति के प्रति आसक्त नहीं होगे। तुम्हें उनसे अलग होने का या उन्हें खोने का भय भी नहीं रहेगा।" हम सबको यही बात सीखनी है।

यदि हम भगवान् के किसी विशेष अवतार को अपना इष्ट बना लेते हैं और अपने मन को इष्टदेव में लीन कर देते हैं तो हम अनुभव करेंगे कि वे सदैव हमारे साथ हैं।

भगवदीय प्रेम का तीसरा पहलू यह है कि उसमें कोई लेन-देन नहीं होता। भक्त बिना प्रतिदान की अपेक्षा के प्रेम करता है। मानवीय प्रेम में हम अपेक्षा तो अधिक की करते हैं किन्तु हमें जो प्रतिदान मिलता है वह बहुत कम प्रतीत होता है। मन अनेक क्षुद्र वासनाओं से भरा होता है। इसीसे निर्मल प्रेम का उदय नहीं हो पाता। अधिक समय मन इसी उधेड़-बुन में लगा रहता है, "मुझे क्या पुरस्कार मिला ? मैंने तो तुम्हारे लिये इतना किया है किन्तु अन्ततः तुमने मेरे लिये क्या किया है !" पर यदि हम आध्यात्मिक जिज्ञासु हैं और ईश्वर तक पहुँचना चाहते हैं तो हमें उनसे बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा किये प्रेम करना होगा। यदि हम अपने कार्यों के लिए भुगतान की माँग करेंगे तो यह प्रेम की जड़ को ही काटना होगा। ऐसे कार्य ईश्वर तक भला कैसे पहुँचा सकते हैं ? किन्तु यदि प्रतिदान की अपेक्षा के बगैर हम ईश्वर से केवल उन्हीं के लिये प्रेम करें तो हमारा कुछ नहीं जाएगा। इसके विपरीत, हमें महान् फल प्राप्त होगा। हम इसी जीवन में अपने मन में ईश्वर की उपस्थिति का निरन्तर अनुभव करेंगे।

एक भारतीय कहावत है : "भगवान् के अतिरिक्त सभी वस्तुओं को भूल जाओ।" इसका यह मतलब नहीं है कि हम यथार्थ से अलग हो जाएँ। इसका अर्थ यह है कि अब

हम अहं और उसकी वासनाओं के बंधन में नहीं बँधे हैं। हमारे लिये भगवान् इतने यथार्थ हो गये हैं कि हम उनके अलावा किसी भी चीज की कामना नहीं करते। यदि हमारे पास सबसे बड़ा खजाना हो तो भला कौन सी वस्तु हमें अपनी ओर आकर्षित कर सकती है।

संसार में कभी-कभी हम एक प्रकार की आत्मविस्मृति का अनुभव करते हैं। हम बहुत सी वस्तुओं को पाने के लिये व्यग्र रहते हैं। जब हम उन्हें पा लेते हैं तब हमें आनन्द होता है और हम कुछ समय के लिए किसी अन्य वस्तु की लालसा नहीं करते। पर अनुभव हमें बताता है कि इस प्रकार का संतोष स्थायी नहीं होता। शीघ्र ही मन में दूसरी इच्छा उठती है और हमारा आनन्द समाप्त हो जाता है। फिर से एक नयी माँग उठती है, उसके साथ नयी बेचैनी जागती है और फिर तृप्ति का अत्यल्प काल आता है। जब तक दूसरी कामना हमारे मन में नहीं उठती तब तक आत्मविस्मृति छायी रहती है।

किन्तु भगवान् के बारे में यह बात सच नहीं है। जब हमें विश्वास हो जाता है कि वे ही हमारा खजाना हैं और वे निरन्तर हमारे साथ हैं, तब अन्य कोई भी इस अनुभूति में बाधक नहीं हो सकता। कोई भी हमें अपने विश्वास से तर्क के द्वारा नहीं डिगा सकता, क्योंकि विश्वास हृदय से निकलता है, बुद्धि से नहीं। कोई भी बौद्धिक तर्क दूसरे तर्क के द्वारा काटा जा सकता है किन्तु यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को जान लेता है तो उसका विश्वास अटूट हो जाता है

और कोई भी तर्क उसे बदल नहीं सकता। उसके विचारों, शब्दों और व्यवहारों से ईश्वरानुराग झरता रहता है। जो लोग उसके दिव्य प्रेम की अनुभूति करते हैं उनका जीवन ही बदल जाता है।

हिन्दुओं के साहित्य में इस प्रकार के अनुभूतिवान् संतों के उदाहरण भरे पड़े हैं। उनमें एक यह कहानी भी है। एक बार एक संत के पास उनके शिष्य बड़ी विपदा में पड़कर आये। उन्होंने पूछा, "महात्मन् ! हम क्या करें ? डाकू आ रहे हैं।" संत अविचलित रहे। उन्होंने कहा, "तुममें से जो भयभीत हो वह जा सकता है। किन्तु मैं यहीं रुक रहा हूँ। मुझमें दस आदमियों का बल है।" उनके शिष्यों ने पूछा, "भगवन् ! यह कैसे हो सकता है ? आप तो इतने दुबले-पतले हैं।" तपस्वी ने उत्तर दिया, "मुझमें दस आदमियों का बल इसलिये है कि मेरा हृदय निर्मल है।" उन्होंने गर्व पूर्वक यह बात नहीं कही थी। वे जानते थे कि उनका हृदय ईश्वर से परिपूर्ण है जो स्वयं पवित्रतास्वरूप हैं। वे किसी भी व्यक्ति से तनिक भी बैर नहीं रखते थे इसलिए जब वहाँ डाकू आये, तो उन लोगों को उनके अद्भुत प्रेम और पवित्रता का अनुभव हुआ। उन्होंने उनकी कुछ भी हानि नहीं की। उन्होंने उस सन्त में ईश्वर को ही विद्यमान पाया।

प्रत्येक जीव के अन्तस्तल में ईश्वर निवास करते हैं। वे पापी के हृदय में भी रहते हैं और पुण्यात्मा के हृदय में भी। इसलिये संत ने जिस ईश्वर को अपने भीतर देखा है,

उसे ही वे अन्य प्राणियों के अन्तराल में भी देखते हैं। यदि हम इष्टदेव का ध्यान करें और उन्हें अपना बना लें तो हम भी अनुभूति की इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। जब हम उत्कट ईश्वरीय अनुराग को प्राप्त कर लेंगे तब हम यह महसूस करेंगे कि हमारे जीवन से सभी कठिनाइयाँ और समस्याएँ निकल गयी हैं। तब हमारी चेतना ईश्वर के परमानन्द से भर उठेगी। इसलिये सबसे पहली सीख यह है कि हमें अपने हृदय को पवित्र बनाना होगा; हमें अपने अन्तराल से क्रोध, लोभ, मोह के आवेगों को दूर करना होगा और उसमें तब तक गहरी से गहरी डुबकी लगानी होगी जब तक हम भगवान् के निवास तक न पहुँचे। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "जमींदार कभी अपनी रियासत के एक इलाके की तरफ जाता है, तो कभी दूसरे इलाके की तरफ। पर लोग कहते हैं कि वह अक्सर अपने घर के बैठकखाने में ही मिला करता है। भक्त का हृदय ईश्वर का बैठक खाना है।" प्रेम का मार्ग हमें इस बैठकखाने की खोजने का उपाय बताता है जहाँ भगवान् बैठकर हमारी प्रतीक्षा करते हैं।

प्रेम के मार्ग में एक विशेष बाधा है जिससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। यह बाधा है दूसरों के दोषों को देखना। बहुत से लोग हमें निःशुल्क सुझाव दिया करते हैं। वे कहते हैं, "अरे, अमुक तो गलती पर है। उसे वैसा नहीं करना चाहिये।" ऐसी आलोचना से व्यक्ति स्वयं के मन की शान्ति को नष्ट कर लेता है और ईश्वरीय प्रेम के

प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है। इसके सिवा, जब हम अपने साथियों की आलोचना करते हैं, तब हमारी निगाह अक्सर अपने दोषों पर नहीं होती। हम अपने दोषों की जिम्मेदारी दूसरों के सिर पर मढ़ देते हैं। इसी कारण लोगों से हम सदैव उलझते रहते हैं।

गुरु और उनके शिष्य की एक कहानी है। शिष्य को रात में बाहर जाना था इसलिये गुरु ने उससे कहा, "अपनी लालटेन जलाकर ले जाओ। इससे तुम्हें अँधेरे में चलने में सुभीता होगा। लालटेन की बत्ती यदि जलती रहेगी तो तुम सब ओर देख सकोगे और दूसरे लोग भी तुम्हें देखते रहेंगे।" शिष्य अपने को कुछ समझता था। वह सोचने लगा, "अच्छा, अब मुझे भी अँधेरे में लालटेन जलाकर ले जाना पड़ेगा! मेरी तो आँखें बड़ी तेज हैं और मैं देख सकता हूँ।" निदान उसने लालटेन जलाई और उसे उठाकर चल पड़ा रास्ते में लोग उसके लिए रास्ता छोड़ते रहे। अचानक हवा का एक झोंका आया और उसकी लालटेन बुझ गयी। उसके बुझते ही एक व्यक्ति उससे टकराकर उसके ऊपर गिर पड़ा। बाद में जब वह अपने गुरु के पास लौटा तो बड़ी विनय से उसने उन्हें प्रणाम किया और सारा हाल कह सुनाया। गुरु बोले, "इससे तुम सीख लो। अगर तुम अपनी लालटेन पर ध्यान न दोगे और उसे बुझ जाने दोगे तो यह तुम्हारी ही गलती होगी। तब अगर कोई तुमसे टकरा जाये तो इसके लिये तुम उसे दोष मत दो। तुम अपनी लालटेन को जलती रखने के लिये निरन्तर सजग रहो।"

दूसरों के दोषों को न ढूँढ़ने का मतलब यह नहीं है कि बड़े लोगों को बच्चों की गलतियों को नहीं सुधारना चाहिये। यदि कोई हमसे अपना विचार पूछे तो हम उसे बता सकते हैं। किन्तु हमें अपने मत को प्रेम से इस प्रकार प्रकट करना चाहिये कि हम बिना कटु-सत्य बोले सत्य-वादी बने रहें। किन्तु दूसरों की आलोचना करना या गुण-दोष देखना बिलकुल दूसरी बात है। इस आदत के सम्बन्ध में श्री माँ सारदा देवी ने कहा था, "यदि तुम मन की शान्ति चाहते हो तो दूसरों के दोष मत देखो। देखना ही है तो अपने दोष देखो। समस्त विश्व को आत्मवत् समझो; कोई अजनबी नहीं है। सारा संसार तुम्हारा अपना ही है।"

जब तक हम प्रेम की इस उदात्त भूमिका पर नहीं पहुँच जाते तब तक दूसरों को उपदेश देने के बदले हम अपने को सुधारने का प्रयत्न करें। हम प्रभु से दूसरों की बात कह सकते हैं। हम उनसे दूसरों के और अपने कल्याण के लिये प्रार्थना कर सकते हैं। हम उनसे दूसरों को अपने निकट लाने का अनुरोध कर सकते हैं। हमें और कुछ करने की जरूरत नहीं है। भगवान् अन्य बातों की देखरेख स्वयं कर लेंगे।

तो फिर हम अपने दोषों का क्या करें? उन्हें हमें भगवान् पर नहीं छोड़ना चाहिये। हमें उन्हें सुधारना होगा। यदि हमारा दिया बुझजाय तो हमें गर्व से बैठे नहीं रहना चाहिये और भगवान् से उसे जलाने की अपेक्षा

नहीं करनी चाहिये। अपने दिये को जलाए रखने का काम हमारा है ताकि लोग हमें धक्का न दें।

इस प्रकार जब हम अपने हृदय से छिद्रान्वेषण के दोष को हटा देते हैं और सबका आदर करते हैं तो हम देखेंगे कि हममें सरलता से ईश्वरीय भक्ति का उदय हो रहा है।

—'बेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवाः।
न च विद्यागमोप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत्॥

—जहाँ मान नहीं, जीविका नहीं, बन्धु नहीं और विद्या का भी लाभ नहीं है वहाँ नहीं रहना चाहिए।

—चाणक्य

यमुनोत्री से गोमुख

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

गत वर्ष जब मैं श्री बद्री-केदार की यात्रा से लौटा था, तब मन में आया था कि अब कुछ वर्षों तक शायद ही उत्तराखंड की यात्रा हो सके। इसका कारण था दुरूह, कष्ट-साध्य मार्ग, उत्तुंग शिखरों की चढ़ाई, रास्ते की बीहड़ता तथा कड़कड़ाती हुई ठंड। इन सबने मिलकर सारे शरीर को हिला-सा दिया था। पर जैसे जैसे समय बीतता गया, कष्ट बिसरते गये और साथ ही साथ उधर का आकर्षण अपनी ओर खींचने लगा। वहाँ का परम पवित्र वातावरण, गंभीर ध्यान में मग्न ऋषियों की तरह निश्चल हिमाच्छादित शैल-शिखर और उनसे उतरते हुए अगणित निर्झर रह-रहकर याद आने लगे। याद आने लगी मन्दाकिनी और अलखनन्दा की उन विमल उच्छ्वासमयी धाराओं की जो कभी विशालकाय चट्टानों से टकराकर गंभीर रव के साथ प्रलयंकर रूप दिखलाती हुई बहतीं तो कभी सघन अरण्यों में से होती हुई मंथर गति से चलतीं। कभी मार्ग से दूर हजारों फीट की गहरी घाटी से बहतीं, तो कभी मार्ग के साथ ही साथ अठखेलियाँ करती हुई बढ़तीं। केदारनाथ के मार्ग की असंख्य प्रकार के वृक्षों और सुमन-लतिकाओं को अपने वक्ष में छुपाए हुई वे हरीतमायुक्त उपत्यकाएँ आँखों के सामने झूलने लगीं जिनके अनुपम दृश्यों ने और जिनके

रंग विरंगे फूलों की मादक सुरभि ने सारे रास्ते में क्लान्त देह को शान्ति और नवजीवन प्रदान किया था।

वास्तव में हिमालय की यात्रा एक नशा है। यह वह मदिरा है जिसकी आदत एकबार लगने से छुड़ाना मुश्किल होता है। नशा उतरने पर प्रत्येक बार मनुष्य सोचता है कि वह अब उसे स्पर्श तक नहीं करेगा किन्तु कालान्तर में पुनः उसके वशीभूत हो जाता है। उसी प्रकार यात्रा में चलते चलते शरीर के सारे अवयव जवाब देने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जायेगा। सोचता है वापस लौट जाने का, किन्तु वह लौट नहीं पाता। ये खिलखिलाते हुए निर्झर, ये बिहँसते फूल, सुमधुर कलनाद करती हुई सरिताएँ मौन आमंत्रण देती हैं और उसे लड़खड़ाते पैरों से आगे बढ़ना पड़ता है। अस्तु। इस वर्ष गर्मी के प्रारंभ से ही यात्रा की योजना बनने लगी। अबकी बार यमुनोत्री और गंगोत्री की यात्रा करनी थी। ग्रीष्मकालीन छुट्टियाँ होते ही ६ मई १९६५ को मैं प्रातःकाल की गाड़ी से निकल पड़ा।

पिछले वर्ष की यात्रा से यह अनुभव हुआ था कि सामान जितना कम रहे उतना ही उत्तम। बद्री और केदारनाथ के मार्ग की चट्टियों में प्रायः किराये से कंबल और रजाई मिल जाते हैं। तथा आवश्यक चीजें जोशी मठ में भी प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिए मैं साथ में एक ही कंबल ले गया। साथ में दो सेट पहनने के कपड़े, एक दरी, एक चादर, टार्च कैमरा और एक लोटा मात्र इतनी वस्तुएँ थीं।

ये सब एक कपड़े के झोले में आगए जिसे मैंने इस यात्रा के ही लिए सिलवाया था। इसे पीठ में लादकर आसानी से चला जा सकता था।

ऋषिकेश में पहुँचने पर मालूम हुआ कि यात्रियों की संख्या काफी बृद्धि में थी। टिकट लेनेके लिये पहले ही नाम दर्ज कराना पड़ता था। तब कहीं जाकर चार-पाँच रोज के बाद टिकट मिल पाती थी। मैंने नाम लिखवा दिया। अब तीन-चार दिन का अवकाश था। मेरे साथ रायपुर के एक मित्र श्री प्रफुल्ल झा भी थे। वे ऋषिकेश में कुछ दिन बिताने के लिए आये थे। अतः ऋषिकेश के आसपास के स्थानों का भ्रमण करना प्रारंभ कर दिया। ऋषिकेश एक पुण्य स्थली है। भगवती जाह्नवी के तट पर बसा हुआ, यह अनादि काल से लोगों को अपनी ओर खींचता रहा है। ऋषि, मुनि और सन्त-महात्माओं के त्याग और तपश्चर्या से यहाँ का वातावरण पवित्र रहा है, जहाँ पर आकर संसार-दावानल से दग्ध हजारों नर नारी शान्ति लाभ करते रहे हैं। परन्तु आजकल जिस तीव्रगति से यहाँ पर अनेक कल-कारखानों के निर्माण के फलस्वरूप भौतिकता का प्रवेश होने लगा है, इससे शंका उत्पन्न होने लगी है कि कुछ कालोपरान्त यह भारत के अन्य नगरों जैसा ही न हो जाये।

इस बीच हम लोगों ने स्वर्गाश्रम, गीताभवन तथा परमार्थ निकेतन आदि, दर्शनीय स्थलों का दर्शन लाभ किया तथा शिवानन्द आश्रम की सत्संग-सभा में भाग

लिया। बहुत दिनों से इच्छा थी कि वशिष्ठ गुफा का दर्शन किया जाये। वशिष्ठ गुफा यहाँ से १४ मील दूर बद्रीनाथ जाने के मार्ग पर अवस्थित है। 'विवेक-ज्योति' के एक अंक में 'वशिष्ठ गुफा के योगी' नामक लेख पढ़कर इच्छा और भी बलवती हो गई थी। अतः १० मई के प्रातःकाल हम दोनों ५ बजे वशिष्ठ गुफा के लिए पैदल रवाना हो गए। रास्ता गंगाजी के किनारे किनारे चला गया है। गंगा के विभिन्न रूपों का दर्शन करते हुए हम लोग १०½ बजे वशिष्ट गुफा के पास पहुंच गए। गुफा सड़क से काफी नीचे स्थित है। उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। सीढ़ियाँ उतरकर नीचे पहुँचे। रास्ते के दोनों ओर कतार से केले के वृक्ष लगे थे। भाँति-भाँति के वृक्षों और लताओं से वह स्थल पूर्ण है। सामने ही आश्रम नजर आया। वहाँ पर ब्रह्मलीन स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के शिष्य स्वामी आत्म-चैतन्य जी के दर्शन हुए। हमारी उत्सुकता का सारा केन्द्र वह गुफा थी, जो कहीं दृष्टिगत नहीं हो रही थी। जिज्ञासा-वश स्वामीजी से पूछ बैठे, "वह वशिष्ठ गुफा कहाँ है?" सामने के एक कमरे की ओर इंगित करते हुए उन्होंने बताया, यही वह वशिष्ठ गुफा है, जहाँ पर स्वामी पुरुषो-त्तमानन्द जी ने तपस्या की थी। गुफा को कमरे के रूप में पाकर हम लोग आश्चर्य चकित हो गए। उसके अन्दर जाने पर मालूम हुआ कि वास्तव में वह बड़ी लंबी अँधेरी गुफा थी, जिसे बाहर से दरवाजा लगाकर सीमेंट द्वारा बन्द कर दिया गया था। अन्दर एक शिव लिंग विराजित था,

जहाँ एक प्रशांत दीप जल रहा था। बड़ी ठंडक थी वहाँ। हमें बताया गया कि पहले यह गुफा चौदह मील लंबी थी जिसे स्वामीजी ने बन्द करा दिया था। स्वामीजी के समाधि-लाभ के पश्चात् भक्तगणों ने उसे कमरे का रूप दे दिया था। उसी प्रकार दो छोटी गुफाएँ और थीं जिन पर भी दरवाजे लगा दिये गये थे। यहाँ से कुछ ही दूर पर गंगा जी बह रही थीं। बड़ा ही रमणीक स्थल था। हाल में चारों ओर के जंगल साफ कर दिए गए हैं, जिससे चार-पाँच वर्ष पूर्व की बीहड़ता का अंदाज नहीं लगाया जा सकता। कुछ समय बाद स्वामी जी के अन्य शिष्य स्वामी कालिकानन्द जी तथा स्वामी रामानन्द जी भी आ गए। स्वामीजी के दैवी गुणों के बारे में चर्चा होने लगी कि किस प्रकार उन्होंने इस बियावान जंगल में एकाकी आकर साधना प्रारंभ की थी और उनके अथक प्रयत्नों से उसका यह रूप हो पाया है। हमलोगों ने वहीं प्रसाद पाया। कुछ घंटे उनके सान्निध्य में बिताकर शाम को हम लोग वापस ऋषिकेश लौट आए। पैदल यात्रा का यह श्रीगणेश था। शरीर थकावट से चूर चूर हो गया था। आकर जो सोये कि सुबह आठ बजे नींद खुली।

दूसरे दिन अर्थात् ११ मई को टिकट मिल गई और मैं ११½ बजे की बस से रवाना हो गया। यमुनोत्री के लिए डंडलगाँव तक बस जाती है। वहाँ से २८ मील का पैदल मार्ग है। हृदय आनन्द से पूर्ण था कि पुनः हिमालय की गोद में विचरण करने का सौभाग्य मिल रहा है। लक्ष्मण

झूला से कुछ दूर पर, बस पर्वतीय मार्ग की ओर मुड़ गई। सीधा रास्ता बद्रीनाथ को गया था। कुछ ही देर में गंगाजी आँखों से ओझल हो गईं। बद्रीनाथ के मार्ग पर देवप्रयाग तक गंगा का तथा उसके आगे अलखनंदा का अविरल साथ रहा था, उसी प्रकार केदारनाथ का मार्ग मन्दाकिनी के किनारे-किनारे गया था। अतः इन सुर-सरिताओं के विभिन्न रूपों के दर्शन करते हुए मार्ग कैसे कट गया था, यह मालूम नहीं पड़ा था। किन्तु इधर सूखे शैलशिखर ही अधिक थे। रास्ता क्रमशः चढ़ाई का था। कुछ देर में गाड़ी नरेन्द्रनगर पहुँची। यह एक छोटासा साफ-सुथरा नगर है। पहले यह टिहरी की राजधानी थी।

गाड़ी जब चंबा पहुँची, तो ठंडी हवाओं के झोंके लगना शुरू हो गया। यह ५४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से चारों ओर पहाड़ों के क्रोड़ में बने हुए सीढ़ीनुमा खेत बड़े मनोरम दीख पड़ते थे। खेतों में विभिन्न प्रकार की फसलें लगाई गई थीं जो अपने लाल, पीले और हरे रंगों से अनुपम सुषमा बिखेर रही थीं। बस में अधिकांश लोग बाहर के यात्री थे और बाकी वहीं के पहाड़ी लोग थे। यात्रियों में दो कलकत्ते के बंगाली सज्जन थे। उम्र दोनों की पैंतीस-सैंतीस के लगभग। रास्ते भर दत्त मोशाय अपनी भाषा में बंगाली और हिन्दी का अपूर्व समन्वय करते हुए स्थानीय लोगों से रास्ते के बारे में जानकारी प्राप्त करते रहे। बंगाली थोड़ी बहुत समझने के कारण उनकी इस मिश्रण युक्त भाषा में मुझे बड़ा रस आ रहा

था। पर पहाड़ी लोगों के लिए उनका मन्तव्य समझना बड़ा कष्ट साध्य व्यापार था। उत्तर देनेवालों के हौसले पस्त हो रहे थे किंतु प्रश्नकर्ता के उत्साह में कोई कमी नहीं आई थी। उन्होंने एक से पूछा, "ओदिके (उधर) रास्ता में डिम मिलता।" पहाड़ी ने न जाने डिम का अर्थ क्या लिया; तत्काल बोला, "नहीं, उधर आलू खूब मिलता।" मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। मैंने उसे बताया कि डिम का मतलब अंडे से है। सुनकर सभी हँसने लगे। मुझे अब बीच बीच में दुभाषिये का काम करना पड़ा। दोनों बंगालियों से अब अच्छा परिचय हो गया। वे दोनों चारो-धाम अर्थात् गंगोत्री, यमुनोत्री, केदार और बद्रीनाथ की यात्रा पर निकले थे। उनके साथ सामान भी अच्छा खासा था। उनमें सेन बाबू अपेक्षाकृत शान्त और गंभीर प्रकृति के थे। हम तीनों ने साथ ही यात्रा करना तय किया।

जब गाड़ी टिहरी पहुँची तब शाम के ६½ बजे थे। पास के ही एक घर में हम लोगों ने ठहरने का इंतजाम किया। टिहरी शहर यहाँ से करीब तीन मील दूर है। दूर से गंगाजी का कलकल नाद सुनाई पड़ रहा था। गंगा-दर्शन की इच्छा बलवती होने लगी। लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि गंगाजी चार फर्लांग की उतराई पर हैं। सेनबाबू भी गंगा-दर्शन का लाभ उठाने तैयार हो गये और हम दोनों अपने सामान दत्तबाबू की संरक्षता में छोड़कर उतराई के रास्ते पर चल पड़े। रास्ता ऊबड़-खाबड़ था। चलते चलते आधा घंटा बीत गया पर वह चार फर्लांग खत्म होने पर ही नहीं

आया। गंगा की आवाज बतला रही थी कि अभी मंजिल दूर है। सेनबाबू जरा स्थूलकाय थे। चलते चलते हाँफने लगे। पहाड़ियों द्वारा बताया गया वह ४ फर्लांग, १ मील से कम नहीं था। करीब ७½ बजे गंगातट पर पहुँचे। बड़े वेग से गंगाजी बही जा रही थीं। प्रवाह में लकड़ी के बड़े बड़े टुकड़े बहकर आ रहे थे। स्वच्छ निर्मल जल देखकर मन प्रफुल्लित हो उठा। कुछ देर वहाँ पर बैठकर वापस लौटे। सेनबाबू बुरी तरह थक गए थे। गंगादर्शन उन्हें बहुत महँगा पड़ा। ले देकर ऊपर पहुँचे। रास्ते में दत्तबाबू मिल गए। वे दो चार आदमियों को लेकर हमें ढूँढ़ने निकल पड़े थे।

दूसरे दिन सुबह ७ बजे बस टिहरी से रवाना हुई। आगे का रास्ता बड़ा संकीर्ण था। सर्पीले मार्ग से मोटर चली जा रही थी। फिर भी मार्ग बद्रीनाथ के मोटर मार्ग की भाँति खतरनाक नहीं है। बद्रीनाथ के मार्ग में एक ओर गहरी घाटी है तो दूसरी ओर पर्वत-सिखर। चालक की थोड़ी भी भूल हुई कि मोटर गहरी घाटी में पहुँची! जब घाटी की ओर गाड़ी मुड़ती तो हृदय की धड़कन बढ़ जाती। अलखनन्दा की ओर देखने से भय का संचार हो जाता। किन्तु इधर के रास्ते क्रमशः ऊँचाई और उतार वाले थे। धरासू पहुँचने पर गंगाजी के पुनः दर्शन हुए। यहाँ पर गंगाजी का पाट अपेक्षाकृत कम चौड़ा है, किन्तु बहाव तीव्र। यहाँ से एक रास्ता उत्तरकाशी को जाता है और दूसरा डंडलगाँव को। अब मोटर क्रमशः चढ़ाई पर चली

जा रही थी। दोनों ओर के पहाड़ चीड़ के वृक्षों से युक्त थे। चीड़ के ये वृक्ष पहाड़ों पर सीधे लगे हुए थे। क्रमशः ७५०० फीट की ऊँचाई पर गाड़ी पहुँची। यहाँ से चारों ओर हिमशिखर दीख पड़ते थे। सूर्य की रोशनी में जगमगा रहे थे। गाड़ी पुनः घाटी में उतरने लगी और जब हम लोग डंडलगाँव पहुँचे तब वह ३५०० फीट उतर आई थी। यहाँ से पैदल यात्रा प्रारंभ करनी थी। दिन के तीन बज रहे थे। सेन और दत्त बाबू ने एक कुली को तय किया। मैंने अपना सामान पीठ में लादा और गंगानी की ओर चल पड़े। डंडलगाँव में ठहरने का इंतजाम ठीक नहीं था, अतः हम लोगों ने गंगानी में रुकना निश्चित किया। मार्ग चीड़ के सघन वन में से होता हुआ चला गया है। पक्की सड़क है, जिस पर गाड़ी आसानी से चल सकती है। थोड़ी देर में धीरे धीरे वर्षा होने लगी। हम लोगों ने आगे बढ़ना ही मुनासिब समझा। जब गंगानी पहुँचे तब तक पानी थम चुका था। आकाश निर्मल था। पाँच बज चुके थे। पानी गिरने से शीत बढ़ चला था। यात्रियों की भीड़ भी काफी थी। अतः चट्टी में कमरा मिलना मुश्किल था। ले देकर ठहरने लायक जगह मिल गई। यहाँ से यमुना एक फर्लांग दूर पर थी। उसका गंभीर रव साफ सुनाई पड़ रहा था अभी तक रास्ते में कहीं भी यमुना का दर्शन नहीं हुआ था, अतः उसके दर्शन की इच्छा हो आई। सेनबाबू और दत्तबाबू को वहीं छोड़, चट्टानों और शिलाओं को पार करता हुआ जब मैं तट पर पहुँचा तो देखता ही रह गया। अनेक

नील, श्वेत वर्ण शिलाखंडों से टकराकर भीषण गर्जन करती हुई यमुना बही जा रही थी। उसका श्यामल रंग श्वेत चट्टानों से टकराकर फेनिल हो रहा था। जगह जगह वह अनेक धाराओं में विभक्त हो गई थी। प्रवाह तेज था। सुदूर तक उसकी धारा चीड़ के उन घनेवनों में से जाती हुई दीख पड़ रही थी। हृदय गद्गद् हो उठा। मैं कह उठा —

मातर्देवि कलिन्दभूधरसुते नीलाम्बुजश्यामल-
स्निग्धोद्यद्विमलोर्मिताण्डवधरे तुभ्यं नमस्कुर्महे।
त्वं तुर्यास्यसि यत्प्रिया मुररिपोस्तद्बाल्यतारुण्ययो-
र्लीलानामवधायिकान्यमहिषीवृन्देषु वन्द्याधिकम्॥

— "नीले कमल के समान श्याम स्निग्ध निर्मल उत्ताल तरंगों का तांडव धारण करने वाली, कलिंद पर्वत की कन्या, माँ यमुने, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं। तुम तुरीया हो, कृष्ण की प्रियतमा हो और उनके बचपन एवं यौवन की लीलाओं की अधिष्ठात्री हो तथा उनकी पटरानियों में सबसे अधिक वन्दनीया हो।" (क्रमशः)

जिस मनुष्य में तेज नहीं रहता उसकी सब अवहेलना करते हैं। आग बुझ जाने पर राख को सब लोग छूते हैं।

अंतिम विजय

श्री संतोष कुमार झा

जब से इस सृष्टि की रचना हुई है, कदाचित तभी से देवों और असुरों का संग्राम अविरल चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। कभी देव पक्ष विजयी प्रतीत होता है, तो कभी असुरपक्ष प्रबल दीख पड़ता है। इस देव असुर संग्राम का अंतिम निर्णय असंभव है। जब तक सृष्टि है तब तक विजय-पराजय का यह अनंत क्रम चलता ही रहेगा।

इस घटनाचक्र में एक बार असुरगण देवताओं से पराजित हो गये थे। कुछ काल के लिये उनकी शक्ति क्षीण हो गई। किंतु पराजय की पीड़ा ने असुरों को अधिक दिन तक निष्क्रिय न रहने दिया। असुर सूरमा वृत्रासुर ने शतक्रतु इन्द्र के वर्चस्व पर अधिकार करना चाहा।

विजय-मद में इन्द्र असावधान हो गये थे। इस अवसर का लाभ उठाकर वृत्रासुर ने पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया तथा उसके विशेष गुण-गंध-का उपभोग करने लगा। वृत्रासुर द्वारा गंध का अपहरण कर लिये जाने के कारण समस्त पृथ्वी दुर्गंध से परिव्याप्त हो गई। इस दुर्गंध से इन्द्र को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कुपित हो कर वृत्रासुर पर अपने अमोघ अस्त्र वज्र का प्रयोग किया। वज्र प्रहार से वृत्रासुर व्याकुल हो उठा तथा प्राणत्राण के लिये वह जल में जा समाया। वहाँ उसने जलपर अपना अधिकार कर लिया तथा वहाँ रह कर जल के सार तत्त्व

रस को ग्रहण करने लगा। इस प्रकार जल पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया।

जल पर असुर का अधिकार देख कर देवराज इन्द्र बड़े क्षुब्ध हुए तथा रोष पूर्वक उन्होंने पुनः अपने भीषण वज्र से वृत्रासुर पर प्रहार किया। वज्र की मार से वृत्रासुर व्याकुल हो उठा। प्राण रक्षा के लिये वह भाग चला। भाग कर वह अब तेजस् तत्त्व में समा गया। इस प्रकार उसने तेजस् पर अधिकार कर लिया। अब उसने तेजस् के विषय-रूप-का हरण प्रारंभ कर दिया। तेजस् पर ;असुर का अधिकार एवं उसके द्वारा तेजस् के विषय का उपभोग देख कर इन्द्र बड़े ही क्रोधित हुए। क्रोध में भर कर उन्होंने फिर से वृत्रासुर पर अपना भीषण वज्र चलाया। वज्र के भीषण आघात से वृत्रासुर पुनः अधीर हो उठा तथा वहाँ से भाग चला। भागता हुआ वह वायु में प्रविष्ट हो गया तथा उस पर उसने अपना अधिकार जमा लिया। वायु पर अधिकार करके उसने उसके विषय-स्पर्श-का उपभोग प्रारंभ कर दिया। वृत्रासुर की यह धृष्टता देख इन्द्र बड़े ही कुपित हुए तथा पुनः उन्होंने उस पर वज्र प्रहार किया।

वहाँ भी प्राणत्राण न पाकर वृत्तासुर वायु से भाग कर आकाश में जा छिपा। आकाश में छिपकर उसने उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। और आकाश के सार-तत्त्व शब्द को ग्रहण करने लगा।

वृत्रासुर की इस धृष्टता ने इन्द्र की क्रोधाग्नि में घी का कार्य किया। क्रोध से जलते हुए इन्द्र ने वृत्र पर भीषण

रूप से वज्र का प्रहार किया। वज्र की मार से आहत वृत्रासुर को अब छिपने के लिये कोई स्थान शेष न रहा। अवसर पाकर सहसा वह स्वयं इन्द्र की देह में समा गया। वहाँ समाकर उसने उनके अंतःकरण पर अधिकार कर लिया। अंतःकरण में वृत्रासुर का अधिकार होते ही इन्द्र विमोहित हो गये। मोहाच्छन्न इन्द्र आत्मविस्मृत हो गये। उनका विवेक लुप्त हो गया। वज्र विफल हो गया। अब वे पूर्णतः वृत्रासुर के आधीन हो गये।

देवराज इन्द्र में अब यह सामर्थ्य न रह गई कि वे वृत्रासुर का प्रतिकार कर सकें। इन्द्र की यह दयनीय दशा देखकर महर्षि वशिष्ठ को बड़ी दया आई। करुणाविगलित ऋषि ने मन ही मन यह निश्चय किया कि वे इन्द्र का उद्धार करेंगे तथा उसे पुनः इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित करेंगे।

किन्तु इस महत् कार्य के सम्पादन के लिये वृत्रासुर का नाश आवश्यक था। वृत्रासुर का नाश इन्द्र के हाथों, इन्द्र के वज्र द्वारा ही संभव था। किन्तु इन्द्र तो असुर द्वारा मोहाच्छादित कर दिये गये थे। वे आत्मविस्मृत कर दिये गये थे। अतः सर्व प्रथम कार्य था इन्द्र को मोह-निद्रा से जागृत करना। ऋषि ने इन्द्र के मोह का नाश करने का निश्चय किया। मंत्रसिद्ध ऋषि ने रथन्तर साम का गायन प्रारंभ किया। इस आह्वान से इन्द्र की चेतना लौटी। वे सजग हो गये। सजग होने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वृत्रासुर अब बाहर नहीं है, वह तो उनके भीतर प्रविष्ट हो गया है। अतः अंतस्थ शत्रु का बाह्य वज्र के द्वारा संहार संभव नहीं।

आंतरिक शत्रु को आंतरिक शस्त्र के द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। इन्द्र ने अब वृत्रासुर पर आंतरिक अदृश्य वज्र से आघात किया। इस अदृश्य वज्र के मर्मांतक आघात से बच पाना वृत्रासुर के लिये संभव न था। इस आघात से वृत्र अपनी रक्षा न कर सका और उसका नाश हो गया।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। अनेक स्वजन-स्नेही, बंधु-बांधव आदि युद्ध की ज्वाला में भस्मीभूत हो चुके थे। बाहर के सभी शत्रुओं का नाश हो चुका था, किंतु विजयी सम्राट् युधिष्ठिर अस्थिर और अशांत थे। शोक-संतप्त उनका हृदय जल रहा था शोक के अंधड़ में विवेक-दीप बुझ चुका था। महासमर महाभारत के विजयी युधिष्ठिर अपने मन के सम्मुख पराजित हो गये थे। मोहाच्छन्न होकर वे राज्य-कार्य से विरत हुआ चाहते थे। जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह भीषण नरमेध हुआ था, वही विफल हो रहा था।

और तब युधिष्ठिर को कर्त्तव्य स्थिर करने के लिये भगवान् वासुदेव ने उपर्युक्त कथा सुनाई थी। कथा सुनकर युधिष्ठिर सचेत हुए थे तथा उन्होंने ज्ञानखड्ग से इस मोह-रिपु का नाश कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।

जीवन के महासमर में हम सभी को विजय तथा पराजय का अनुभव होता रहता है। हममें से अधिकांश विजय और पराजय दोनों ही स्थितियों में मोहाच्छन्न हो जाते हैं। हमारे मोहाच्छन्न होते ही अज्ञानरूपी वृत्रासुर सक्रिय हो उठता है। सक्रिय हो कर वह हमें रूप, रस, गंध,

शब्द, स्पर्श आदि के जाल में फँसाना चाहता है। इन गुणों का आस्वादन करनेवाली इन्द्रियों के आवेगों को प्रबल कर, वह उन पर से विवेकरूपी इन्द्र का अधिकार समाप्त करने का प्रयत्न करता है। विवेक यदि बलपूर्वक किसी एक इन्द्रिय में उसका दमन करता है तो वह वहाँ से भाग कर दूसरी इन्द्रिय में समा जाता है तथा उस इन्द्रिय के द्वारा विवेकरूपी इन्द्र की शक्ति को क्षीण करने का प्रयत्न करता है। श्रेय से प्रेय की ओर, त्याग से भोग की ओर ले जाने वाले इस असुर से बल पूर्वक संघर्ष करते करते कभी-कभी विवेक शिथिल पड़ जाता है। उसके शिथिल पड़ते ही अज्ञान रूपी वृत्रासुर उस पर अपना अधिकार कर लेता है। एक बार अज्ञान के अधिकार में आ जाने पर विवेक की स्वयंचेतना लुप्त हो जाती है। उसका प्रतिकार का सामर्थ्य शेष हो जाता है।

ऐसे समय में किसी महर्षि वशिष्ठ की आवश्यकता पड़ती है जो मोहाच्छन्न विवेकरूपी इन्द्र का आह्वान कर उसे जागृत करे तथा प्रखर ज्ञान रूपी अदृश्य वज्र के द्वारा अंतस्थ अज्ञानरूप वृत्रासुर के संहार की प्रेरणा दे।

प्रत्येक धर्मप्रवर्तक, प्रत्येक कृष्ण और बुद्ध, प्रत्येक महा-पुरुष वह ऋषि वशिष्ठ है, जो मोहित विवेकरूपी इन्द्र का आह्वान कर उसे अज्ञान-असुर के नाश करनेकी प्रेरणा दे रहा है। इन महान् विभूतियों द्वारा दिया गया उपदेश ही वह वज्र है जिसके द्वारा अज्ञान रूपी वृत्रासुर का संहार किया जा सकता है और इसप्रकार अन्तिम विजय हमारी हो सकती है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

डा० चेतानाथ तिवारी

(गतांक से आगे)

इसी समय कोल्हापुर के महाराजा को पागल करार देकर कारावास में डाल दिया गया और कारभारी माधवराव बर्वे राज्य का प्रबन्ध करने लगे। कैद में महाराजा को अनेकों कष्ट दिये जाने लगे। गोरे फौजी सरदार उनकी देख-रेख में रहते थे। वे उन्हें नाना प्रकार से कष्ट दिया करते थे। वास्तव में महाराजा पागल हुए ही न थे। उनकी माताजी को उनके पास जाने नहीं दिया जाता था। फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता गया। एक दिन किसी बात पर ग्रीन नामक गोरे सर्जेन्ट से महाराजा की हाथा पाई हो गयी। उसने महाराजा को घोड़े की चाबुक से मारा। मार की अधिकता से महाराजा के प्राणांत हो गये तो सरकार ने वक्तव्य निकाला कि लीहा फट जाने से मृत्यु हो गई। तिलक ने महाराजा पर हुए भिन्न-भिन्न अत्याचारों के वर्णन सहित कई लेख 'केसरी' और 'मराठा' में छापे और उनके पक्ष में जनमत जागृत किया। इस पर बर्वे ने तिलक पर मानहानि का दावा दायर किया। तिलक के संवाददाता के पत्र, जिनपर से अत्याचारों की सिद्धि होती थी, एक दूसरे मुकदमे में जज द्वारा जाली करार

दिये गये। अब तिलक ने केसरी में छाप कर बर्वे से क्षमा माँगी, किंतु बर्वे ने मामला नहीं उठाया। तिलक और आगरकर को चार-चार मास की कारावास की सजा हो गई। तथापि जनता ने तिलक को निर्दोष और अकारण पीड़ित हुए जानकर कारावास-मुक्ति पर उनका अपूर्व स्वागत किया। इस प्रकरण से आपकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई।

पीड़ितों का पक्ष लेकर आपकी सहायता करने की वृत्ति को जनता समझने लग गई। उदारण स्वरूप इसी मामले में उरवणे नामक एक प्रसिद्ध गुड़ के व्यापारी ने बिना परिचय के आपके लिये ५०००) रुपया की नकद जमानत दी थी एवं तत्पश्चात् तिलक का इस कुटुम्ब से सदा के लिए अविच्छिन्न एवं घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया था। क्राफर्ड साहब एक बड़े बुद्धिमान उच्च सरकारी नौकर थे। मराठी बड़ी सुन्दर बोलते थे। ये आलसी, शौकीन, शराबी सभी कुछ थे। इस कारण वेतन मात्र से तो काम चल ही न सकता था। अतः वे न्योछावर-उपहार आदि लेने में प्रवीण हो गये। ये उपहार कई बार तो ऋण के रूप में लिये जाते थे। काण्ड अत्यधिक बढ़ गया और जाँच प्रारम्भ हुई। इन्हीं के नीचे काम करने वाले अनेक तहसीलदारों को इनके विरुद्ध गवाही में बुलाया गया। माफी का आश्वासन दे उनसे सत्य का पता लगाया गया। तिलक तो सदा पीड़ितों का पक्ष लेते थे। आपने इन तहसीलदारों के बचाव के पूरे-पूरे प्रयत्न किये। तथापि अनेकों पर सरकार की वक्रदृष्टि हो ही गई।

क्राफर्ड साहब को सस्पेन्ड कर दिया गया। उन्होंने एक चिट्ठी लिखी कि मैं आत्महत्या कर रहा हूँ और मेरा शव नदी में अमुक स्थान पर मिलेगा। यह लिखकर वे रद्दी कपड़े पहनकर बंबई भाग गये। दुर्भाग्यवश वहाँ समयपर जहाज में न चढ़ सके और गिरफ्तार कर लिये गये। जाँच कमीशन ने क्राफर्ड साहब को रिश्वत के अभियोग से मुक्त घोषित किया किंतु यह आरोप लगाया कि इन्होंने अपने आधीनस्थ कर्मचारियों से ऋण लिया। इधर उनको रिश्वत दिलाने वाले एक एजेन्ट को २ वर्ष कारावास एवं २०००) का अर्थ दण्ड दिया गया। क्राफर्ड साहब विलायत चले गये और उनकी पत्नी को सरकार की ओर से पेंशन दी गई। तहसीलदारों को आश्वासन प्रदत्त होनेपर भी अपराधी माना गया। छाँट छाँट कर किसीको रखना और किसी को नौकरी से अलग करना प्रारम्भ हुआ। 'केसरी' में तिलक ने लिखा कि सच्ची गवाही देने के लिये इन्हें सरकार की ओर से माफी का वचन दिया गया था। अब सरकार को इनपर कोई कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है, विशेषकर जब मुख्य और वास्तविक अपराधी निर्दोष मुक्त हो चुका है। सरकार इनपर सच बात कहने के कारण ही कुपित है। इस संबंध में अनेकों सभाओं द्वारा आन्दोलन हुआ। विलियन डिग्बी द्वारा पार्लमेंट में इन तहसीलदारों के पक्ष में एक बिल उपस्थित कराने का प्रयत्न किया गया। इन्हीं के फलस्वरूप कई तहसीलदार पुनः नियुक्त हुए। कुछ को पेंशन दी गई। ये वकीली भी करने

लगे। कुछ को और भी रियायतें मिलीं। इस प्रकार तिलक के अथक प्रयत्नों से उनका अपराध पूर्णतया मार्जित हो गया। यहाँ तक कि कुछ को आगे चलकर सम्मानास्पद उपाधियों से भी विभूषित किया गया।

सबने स्वीकार किया कि उनका इस प्रकार बचाव तिलक के अतिरिक्त अन्य कोई भी न कर सका होता। आन्दोलन समाप्त होनेपर इन पीड़ितों ने तिलक को सभा में उपहार द्वारा सम्मानित किया जो उपहार तिलक ने अंत समय तक अपने पास रखे।

आप जन्मजात आन्दोलन कारी थे। एनी बीसेंटके पत्र "न्यूइण्डिया"को बन्द करके जब उन्हें गिरफ्तार किया गया तब उस संबंध में एक सभा हुई। इसी में आपने अपनी वह अमर घोषणा अंग्रेजी में की थी कि "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके ही रहूँगा।"

नये गवर्नर लार्ड नार्थ कोट के नियुक्त होकर आने पर 'ग्लोब' ने लिखा था कि बम्बई प्रान्तमें जगह जगह राजद्रोही पार्टियों ने जाल बिछा लिये हैं। इनके नेता तिलक को जेल भेजने से आन्दोलन ठंडा न पड़कर सुलग रहा है। उन्हीं के तन्त्रानुसार चलने वाली अब रक्तपात की प्रवृत्ति प्रकट हो रही है। अतः इन मृदु भाषी (गोड़-बोले) ब्राह्मणों पर भरोसा नहीं करना चाहिये और पूरी सतर्कता की दृष्टि रखनी चाहिये। इसी का उद्धरण 'बंबई टाइम्स' ने भी छापा।

तिलक को इन लेखों में स्पष्ट मिथ्यावादिता एवं

मानहानि दिखाई दी। अतः उन्हें चुप रह जाना राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से उचित न जान पड़ा। 'टाइम्स' ने तो दावा दायर होते ही, समन्स पाने के पूर्व, माफी माँगली। 'ग्लोब'से माफी लेने में खर्च एवं कठिनाई थी किंतु 'तिलक डिफेन्स फन्ड'की बचत रकम से कार्यवाही शीघ्र ही प्रारम्भ कर दी गई। पहले तो 'ग्लोब' ने परवाह नहीं की किंतु दावा दायर होने पर वकीलों की सलाह मानकर खर्च और हरजाना देना स्वीकार किया एवं माफी भी माँगी।

लार्ड कर्जन की अत्याचारपूर्ण एक छत्र शासकनीति से जनता त्रस्त हो उठी थी। तिलक अपनी चुभती हुई भाषा में टिप्पणी करके जनता के समक्ष सरकार के अत्याचारों को प्रकट कर देते थे। सरकार देखती थी कि इससे उसकी प्रतिष्ठा कम होती है। दूसरी ओर आप राष्ट्रीय एकता की दृढ़ता पर बल देते थे। जनसत्ता के आप दृढ़ पक्षपाती थे तथा जनता के अधिकारों के लिये सदा कटिबद्ध होकर युद्ध करने को तत्पर रहते थे। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के लिए चैन की बंसी बजाते हुए भारत का शासन करना उन्होंने असम्भव बना दिया। समयानुसार आतंकवाद के भी आप पूर्णतया विपक्ष में थे; कारण कि इससे जनता भयभीत हो जाती है और प्रकट सर्वव्यापी आन्दोलन को कुचलने के लिये सरकार को बहाना मिल जाता है। आपने जनता में वह प्राणशक्ति जागृत करदी जिससे स्वायत्त शासन की पुकार ऊँची ही होती गई।

प्रान्तीयता मिटाने के प्रयत्नों में आप सदा सजग रहते थे। स्वदेशी-प्रचार एवं विदेशी-बहिष्कार के आंदोलन में आपने प्राण फूँके। राष्ट्रीयतावाद को जगाकर आपने हर प्रकार उसे पनपने में सहायता दी। १६०५ के बंग-भंग आंदोलन में आपने बनारस कांग्रेस में बंग-भंग का विरोध किया। विपिनचंद्र पाल आदि आपको कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहते थे। किंतु तिलक के क्रांतिकारी विचारों से भयभीत गोखले आदि ने इसका विरोध किया और उग्रराष्ट्रवाद पर कुछ अंकुश लगाने के विचार से १६०६ में राष्ट्रीय महासभा के कलकत्ता अधि-वेशन का अध्यक्ष श्री दादाभाई नौरोजी को चुना। किंतु उन्होंने भी भारत का ध्येय राजनैतिक स्वातंत्र्य ही घोषित किया। इस प्रकार वह अधिवेशन तिलक के राष्ट्रीय दल के लिये पूर्णतया विजय प्रदायक रहा। यहाँ से आप सरकार के प्रति असहयोग का प्रचार करने लगे सरकार इस नये जागरण को दबा देना चाहती थी एवं नरमदलीय लोग इसे मन्द कर देना चाहते थे। इसी विचार से उन्होंने आगामी कांग्रेस अधिवेशन सूरत में करने का निश्चय किया। यह नरमदलीय नेता फीरोजशाह मेहता का दृढ़ दुर्ग था। नरम दलीयों की इच्छा थी कि देश को कलकत्ता कांग्रेस के निश्चय से कुछ पीछे खींचा जाये। इसे गरम दलीय नेता भाँप गये और वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। सभा मंडप में अव्यवस्था छा गई। मतभेद बढ़ता गया। नरम और गरम दो दल अलग हो गये। दोनों दलों में

युद्ध हो गया। लोकमान्य जब भाषण देने लगे तब किसी ने उनपर जूता फेंका, पर आप दृढ़ और शांत भाव से खड़े रहे। प्रतिनिधियों में हाथापाई होती रही। नरम दल विजयी हुआ। किंतु गरम दल निकल गया और कांग्रेस निष्प्राण हो गई। कुछ गरमदलीयों ने आतंकवाद भी अपनाया जिसे सरकार ने निर्दयतापूर्वक कुचल दिया। कांग्रेस नरम-दलीयों के हाथमें रही किंतु जीवनशून्य सी होगई। इस प्रकार की घटनाओं से खिन्न हो तिलक कांग्रेस से पृथक् होगये। बादमें श्रीमती एनी बीसेंट के साथ आपने होम-रूल लीग की स्थापना की। आठ-नौ वर्षों तक आप उसी का काम करते रहे। १९०८ में क्रांतिकारी खुदीराम बोस ने एक सरकारी अफसर पर बम फेंका। सरकारने इसका संबंध गरमदलीयों से जोड़ना चाहा। चारों ओर अनेक अराजकता के अभियोग प्रारम्भ हुए। 'केसरी' के १२ मई १९०८ में प्रकाशित 'देश के दुर्भाग्य' शीर्षक लेख के कारण तिलक पर भी अभियोग प्रारम्भ किया गया। आपने वीरता-पूर्वक अपना बचाव किया। आपके घरकी खानातलाशी ली गई। वहाँ कुछ न मिला। बिना वारंट, पोलिसने आपके सिंहगढ़-बँगले की भी तलाशी ले ली। वहाँ किसी आये हुए पुराने पोस्टकार्ड पर (१) Hand Book of Modern Explosives by Eissler एवं (२) Nitro-Explosives by P. Gerard Sanford इन दो पुस्तकों के नाम तिलक ने पेंसिल से लिख रखे थे। उसी को जप्त कर बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया एवं इस बात का उपयोग तिलक का

आतंकवादियों से स्पष्ट संबंध दिखाने के लिए अभियोग में पोलिस द्वारा किया गया। वास्तव में सरकार ने हाल ही में विस्फोटक द्रव्य संबन्धी एक नया कानून बनाया था। उस पर 'केसरी' ने कड़े शब्दों में टीका की थी। ये नाम तिलक ने इसी संबंध में साधारण ढंग से रद्दी कार्ड पर नोट कर रखे थे।

अंततोगत्वा जज स्ट्रेकी द्वारा देशद्रोह शब्द का संकुचित अर्थ लगाये जाने के कारण आपको ६ वर्ष के कालापानी का दंड मिला। देशभरमें जनता उत्तेजित हो उठी। बंबई एवं अन्य शहरों में कई दिन तक हड़ताल रही। इस तीव्र असंतोष को देखकर गवर्नर ने कालापानी की सज़ाको साधारण कैद की सजा में परिणत कर दिया। अभियोग का निर्णय सुनकर आपने जो वाक्य कहा वह इतिहास में अमर रहेगा। आप बोले, "न्यायाधीशगण का निर्णय जो भी हो किंतु मैं अपने को निर्दोष मानता हूँ। संभवतः विश्व के विधानकर्ता ने मेरे आदर्श की सिद्धि के लिये मेरे कारावास को मेरी स्वच्छन्दता से अधिकतर उपयोगी माना है। देश के हित में मेरी यंत्रणाओं से ही अधिक लाभ होगा।"

सुदूर रूस में लेनिन ने कहा, "एशिया आज जागृत हो गया है।" साम्राज्यवाद की मृत्यु का घण्टा रव उसी दिन हो गया, यद्यपि उसे यहाँ से पूर्णतया दूर होने में और भी चालीस वर्ष लगे।

तिलक पहले अहमदाबाद जेल में रखे गये, किंतु

बादमें उन्हें मंडाले भेज दिया गया। वहीं 'गीता रहस्य' की जगद्विख्यात रचना हुई।

कारावास के साथ १०००) का अर्थ दण्ड भी था। इस प्रकार की सजा अंग्रेजी सरकार के हितमें थी या नहीं, इस पर बहुत मतभेद थे। बंबई सरकार इसके विपक्ष में थी। लार्डमोर्ले ने भी लिखा है कि "इससे सरकार के प्रति विद्वेष बढ़ेगा।" इंग्लैंड के कुछ पत्रों ने भी कानून और न्याय की दृष्टि से यह दण्ड अनुचित ही माना। मैन्चेस्टर गार्जियन ने लिखा कि तिलक की आयु ५२ वर्ष की होगई है, उनका जेल से जीवित वापस आना कठिन ही है।

बड़ी सावधानी से, स्पेशल ट्रेन द्वारा, मोटरकार द्वारा, महत्त्वपूर्ण रेलगाड़ियाँ न खड़े होने वाले छोटे-छोटे स्टेशनों पर चढ़ाते-उतारते हुए, जनता की निगाह से बचा बचाकर, तिलक को मंडाले ले जाया गया, किंतु रंगून में २००० की संख्या में जनता की भीड़ एकत्रित हो ही गई। उसी प्रकार लौटते समय भी अवधि से पूर्व स्पेशल आग-बोट में, जिसमें अन्य कोई सवारी न थी, साधारण से भी धीमी गति से, देरी से पहुँचाते हुए तथा अंतमें अर्धरात्रिमें मोटर द्वारा घर के दरवाजे में लाकर आपको छोड़ा गया। तथापि सरकार अपने उद्देश्य की सफलता में नितांत असमर्थ सिद्ध हुई। यद्यपि मालिक के साथ पोलिस सार्जेन्ट को देख कर घर का नौकर फाटक न खोल रहा था, किंतु बाद में जो भव्य स्वागत हुआ उसे देखकर सरकार के कान खड़े हो गये। सरकार ने समझा था कि बहुत दिन व्यतीत हो जाने

के कारण जनता तिलक को भूल जायेगी, तिलक भी त्रस्त होकर अपने मार्ग को छोड़ देंगे और सब शांत हो जायेगा।

जेलमें आपको लकड़ी की दीवालों एवं खपरैल के छप्परवाली कोठरी में रखा गया था। पास ही सुभाष बोस रखे गये थे, किंतु आपकी उनसे भेंट न होने दी जाती थी। पूरी सजा एकांतवास में बीती। आपने वहीं 'गीता रहस्य' की रचना प्रारम्भ की। साथ ही साथ फ्रेंच, जर्मन, पाली, गणित एवं ज्योतिष शास्त्र का एवं तत्त्वज्ञान का भी आप अध्ययन करते रहे। ग्रंथ लिखने के लिये धीरे-धीरे करके आपको जाँच जाँच कर शुद्ध धार्मिक पुस्तकें चारसौ दी गईं। बादमें सख्त कैद की सजा साधारण सजामें परिवर्तित कर दी गई और घरू कपड़े पहनने को मिलने लगे, किंतु जो पूने का लाल चप्पल दिया गया उसके लाल रंग को क्रांतिकारी रंग समझकर काला करके दिया गया। एक मास में एक पत्र पाने एवं भेजने तथा तीन मास में एक मुलाकात की सुविधा दी गई थी। आने जानेवाले सब पत्र पुलिस की दृष्टि में छन कर (सेन्सर होकर) मिलते थे। एक कैदी रसोइया मिला था। पहले गुजराती ब्राह्मण, बाद में महाराष्ट्रीय कुलकर्णी, तत्पश्चात् उत्तरप्रदेशीय ब्राह्मण मिला था।

कुलकर्णी ने आपके जेलजीवन एवं व्यवहार के संबंध में सुन्दर जानकारी दी है। "तिलक बड़े सबेरे उठकर हाथ पैर धोकर १।। घंटे तक ध्यानावस्थित रहते थे। कभी कभी आप श्लोक पाठ भी करते थे। जाड़े में मैं उनके लिये गरम

पानी, साबुन और रूमाल रख देता था किंतु वे कहते थे, 'मैं भी एक कैदी ही हूँ। तू मेरे लिये विशेष व्यवस्था न किया कर। मुझे यह पसन्द नहीं है और शायद अधिकारीगण भी आपत्ति करें।' तत्पश्चात् चाय पीकर अध्ययन प्रारम्भ करते। ६ बजे स्नान करते—जाड़े में गरम पानी से तथा शेष ऋतुओं में ठंडे से। एक दिन वे बोले, "यहाँ पर्याप्त समय रहता है। हम दोनों ब्राह्मण हैं। गायत्री जप एवं सूर्य को अर्घ्य दिये बिना भोजन करना उचित नहीं।' उनका और मेरा अन्न आदि भिन्न भिन्न होता था। उन्हें ज्ञात होने पर वे बोले, 'मेरे लिये जो आता है वही पदार्थ तू भी खाया कर।' मेरे लिये भोज्य पदार्थ बराबर बचें इस दृष्टि से वे कम खाया करते। मेरे लिये जो अन्न आता वह वे पक्षियों को खिला देते थे। पक्षी उनसे इतने हिल-मिल गये थे कि टेबल पर तथा भोजन के समय उनके कंधों पर भी आ आकर बैठ जाते थे। एक दिन ऐसे ही समय सुपरिन्टेन्डेन्ट आ पहुँचा। और देखकर चकित हो गया। उनसे यह उत्तर सुनकर कि वे 'ईश्वर के सभी प्राणियों के प्रति प्रेम भाव रखते हैं इस कारण कोई भी प्राणी उनसे नहीं डरता' वह कुछ देर तक निःस्तब्ध खड़ा रह गया एवं बाद में गंभीर भाव से चुपचाप चला गया। उनका मधुमेह रोग चिंता जनक था। वे औषधि नहीं लेते थे, केवल पथ्य-पर निर्भर रहते थे। एक दिन मैं मसूर की खट्टी दाल में नमक डालना भूल गया किंतु वे कुछ न बोले। पीछे मैंने जब माफी माँगी तो बोले, मुझे तो पता ही नहीं कि तुम

नमक डालना भूल गये थे। इसमें माफी माँगने की कोई बात नहीं।

"छः बजे शाम को हमारी कोठरी का ताला बाहर से बंद कर दिया जाता था। तत्पश्चात् वे मुझे ऐतिहासिक और धार्मिक कथाएँ सुनाते थे। क्रमबद्ध वर्णन सुनकर मैं चकित रह जाता था। उनसे चर्चा सुनना मानोंएक प्रीति-भोज ही होना था। कभी कभी वे विनोदपूर्ण वार्तालाप भी करते। मैं पर्याप्त शिक्षित न होने के कारण इस सब का पूर्ण लाभ नहीं ले पाता था।

"एक दिन जेल की जाँच के लिये बर्मा के गवर्नर आये। साथ में कलेक्टर एवं जेलके सब अधिकारी भी थे। मुझे ही तिलक समझ कर उन्होंने टोप उतारकर गुडमार्निंग किया। मैं हिन्दी में बोला कि तिलक महाराज भीतर हैं। तिलक जब बाहर आये तो इस बात का स्मरण कर सब हँस पड़े। तिलक से ज्ञात होने पर कि वे जर्मन भाषा का अध्ययन करते हैं, गवर्नर साहब ने कहा, 'मेरी पुत्री भी जर्मन पढ़ रही है, आप उसकी परीक्षा लेकर बताइयेगा कि उसकी योग्यता कैसी है।' जेल के अधिकारियोंने सोचा कि तिलक शिक्षार्थिनी की प्रशंसा कर अपने लिये कुछ सुविधाएँ लेंगे। दूसरे दिन गवर्नर पुनः अपनी पुत्री को लेकर आये। तिलक ने जाँच की और स्पष्ट बता दिया कि उसकी योग्यता न्यून है। छोटे अधिकारी इससे चकित हुए और तिलक को आदर की दृष्टिसे देखने लगे तथा रोग आदि की अवस्था में उनपर विशेष ध्यान रखने लगे। तथापि उनका शरीर

पहले से ही उत्तम होने एवं नियमित जीवन के कारण उन्हें प्रायः चिकित्सा एवं सेवा-शुश्रूषा की आवश्यकता ही कम होती थी। इसके विपरीत मुझे बार बार ज्वर आ जाया करता था। रोगी की अवस्था में लोकमान्य मेरे माँ-बाप के समान मेरी सेवा करते थे। वे मुझे अस्पताल में नहीं जाने देते थे। स्वयं रसोई बनाते, पहले मुझे खिलाते और पीछे आप भोजन करते थे। कई बार भोजन कम हो तो मेरे लिये पूरा छोड़ देते और आप उपबासही कर लेते थे। उनके अनेकों संस्मरणों से मेरा हृदय रोने लग जाता है। मुझे वे अपने पितासे भी घनिष्ठतर आत्मीय जान पड़ते थे।

"मेरी पाँच वर्ष की सजा में से ३ वर्ष पूरे हो जाने पर उन्होंने प्रार्थना पत्र दिलाकर शेष माफ करा दी। मैं तब भी उन्हें छोड़ कर जाना नहीं चाहता था। उन्होंने बहुत ही आग्रह पूर्वक विदा किया। वापस आने के दिन मैं बेचैन हो गया। उन्होंने आशीर्वाद दिया और कहा, 'तुम जाकर हमारे लोगों से भेंट करना।' जब मैंने कहा कि शायद वे लोग विश्वास न करेंगे तो उन्होंने अपना गिरा हुआ दाँत अपने भानजे धोंडोपंत को देने को दिया। पोलिसवालों ने छोड़ते समय मुझे सख्त ताकीद दी, 'तिलक के घर न जाना।' मैं पहले अपने घर गया। बाद में चुपचाप पूने में उनके घर गया। दाँत देने पर सभी ने विश्वास कर लिया। मैंने उनकी धर्मपत्नी को सारा विवरण बताया और अपने गाँव वापस चला आया।"

जेलसे आये हुए तिलक के पत्रों से उनकी निरभिमानिता एवं स्नेहपूर्ण स्वभाव का पता लगता है। अपने स्नेहियों के स्वास्थ्य की चिंता, पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा विषयक विशेष पूछताछ, बाबा महाराज की जागीर की व्यवस्था, परलोकगत मित्रों के संबंधियों के प्रति पूर्ण सहानुभूति इत्यादि बातों की चर्चा उनके पत्रों में रहती थीं। प्रीवी कौंसिल अपील के संबंध में भी वहाँ से आप आदेश देते रहते थे। पत्रों को पढ़ने से उनके मन की गंभीर शांति और आश्चर्यजनक संतुलन का बोध होता है। अपनी संगृहीत पुस्तकों से उन्हें अपनी संतान के समान प्रेम था। उनसे वियोग उन्हें विह्वल बना देता था।

अनेकों स्नेहियों और कार्यकर्ताओं को उन्होंने अपने जीवन में पत्र भेजे हैं, किंतु वे अधिकांश पत्रों को पढ़ कर जला डालने का आदेश लिख देते थे ताकि उनके कारण कोई सरकार का कोपभाजन बनकर कष्ट न पावे। इस कारण ऐसी बहुतेरी बहुमूल्य सामग्री अब अनुपलब्ध ही रहेगी।

जेल-जीवन में उनकी धर्मपत्नी के स्वर्गवास का तार मिला। इससे उन्हें दुःख हुआ, विशेषकर इस कारण कि वे उसके अंत समय में जेल में थे।

वे कहते थे, 'प्रत्यक्ष जेल हो या न हो, परतंत्र देश का प्रत्येक निवासी कैदी ही है।'

कारागार से उनकी मुक्ति हुई। इधर प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। नरमदलीयों ने सरकार को युद्ध में सहायता

देनी चाही, किंतु तिलक इसके विरुद्ध थे। अब किसी प्रकार कांग्रेस के दोनों दलों में समझौता हुआ और १६१६ के लखनऊ कांग्रेस में तिलक सम्मिलित हुए। आपका इस अधिवेशन का 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस आदर्श पर भाषण इतिहास में अमर रहेगा। आपके तेज के सामने नरमदलीय फीके पड़ गये। कांग्रेस आंदोलन ने जोर पकड़ा। एनी बीसेंट भी इस आंदोलन में आगईं। ये दोनों एक शिष्टमंडल लंदन भेजना चाहते थे, किंतु सरकारने इस प्रकार आंदोलन का प्रकाश फैलने में बाधा दी। अनुमति नहीं मिली।

तथापि एक दूसरे प्रकरणवश तिलक को इंग्लैण्ड जाना पड़ा। अंग्रेज पत्रकार वेलन्टाइन शिरोलने 'Unrest in India' नामक एक पुस्तक लिखी। इसमें तिलक पर कुछ अपमानजनक आरोप लगाये गये थे। इस पर तिलक ने मानहानि का दावा दायर किया। इसमें होनेवाले व्यय के लिये जनता ने आपको ३ लाख रुपये एकत्रित कर प्रदान किये। आप जब इंग्लैण्ड में थे तभी भारत सरकार ने रौलट एक्ट पास किया। वापस आकर आप अमृतसर कांग्रेस में सम्मिलित हुए। वहाँ आपने कहा 'स्वातंत्र्य माँगने से प्राप्त होने की वस्तु नहीं है, उसे छीनना पड़ता है।' तत्पश्चात् आपने सिंध आदि प्रांतों का विस्तृत दौरा किया। इससे वे रुग्ण हो गये। अंततक आप ताई महाराज वाले मामले में फँसे रहे। प्रीवी कौंसिल तक सभी अदालतों ने आपको निर्दोष पाया। प्रीवी कौंसिल ने अपने

फैसले में लिखा है कि 'तिलक ने गोद के संबंध में जो उदात्त नीति अपनाई, वह उदार एवं प्रशंसनीय है। यदि वे इसे न अपनाते तो अपने मित्रके प्रति विश्वासघाती ठहरते।' अंतिम फैसले का तार उनकी मृत्यु के एक दिवस पूर्व आया।

अंत्येष्टि क्रिया चौपाटी पर हुई। बादमें वहाँ आपकी मूर्ति स्थापित करने के संबंध में सरकार ने जो क्षुद्र हृदयता दिखाई, वह भी एक अलग कहानी है।

किसी प्रकार की भी गरीबी हमारा ईश्वर से उचित सम्बन्ध जोड़ देती है जबकि हर प्रकार की अमीरी, मन या धन की, हमारा उससे विच्छेद करा देती है।

—फ्रैंक क्रासले

प्रश्न — लोग कहते हैं कि धर्म मनुष्य को भीरु और कायर बना देता है। आप क्या कहते हैं?

— हरिनारायण बापट, नागपुर

उत्तर — धर्म के यथार्थ तत्त्व का ज्ञान न होना ही इसका कारण है। धर्म दया और करुणा का पाठ तो पढ़ाता है पर साथ ही अन्याय के प्रतिकार की भी शिक्षा देता है। जो अन्यायी हैं, आततायी हैं, वे धर्म की दृष्टि से दण्डनीय हैं। अर्जुन भी धर्म के सम्बन्ध में भ्रमित हुए थे। इसी भ्रम के कारण वे कौरवों को आततायी समझते हुए भी, उनसे युद्ध करने को हिचक रहे थे। इस भ्रम से ही उनके भीतर भीरुता और कायरता आ गई थी। पर जिस समय कृष्ण उन्हें समझाते हैं, धर्म की सही जानकारी उनके सामने रखते हैं, अर्जुन अपनी कायरता को दूर करने में समर्थ होते हैं। धर्म बल है, मनुष्य का सम्बल है, वह मनुष्य को दिशा और गति प्रदान करता है।

प्रश्न — श्रीरामकृष्णदेव की सूक्तियों में कहा है कि ध्यान करना चाहिए — मन में, वन में, कोने में। इसका क्या मतलब है ?

— राजेश पांडे, जबलपुर

उत्तर—इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान एकान्त में करना चाहिए। मनुष्य का चित्त स्वभाव से चंचल है। उसकी चंचलता दो कारणों से बढ़ जाती है— (१) जब वह दिखावा करना चाहता है, और (२) जब तरह तरह के विक्षेपों से वह घिरा होता है। श्रीरामकृष्ण अपने उपर्युक्त कथन द्वारा साधक को दोनों विघ्नों से बचाना चाहते हैं। कहते हैं. प्रदर्शन का भाव मन में न आने दो, ऐसी जगह साधना करो जहाँ तुम्हें कोई देखता न हो; और दूसरे, ऐसा स्थान चुनो जहाँ विक्षेपों की सम्भावना न हो। उनके 'वन' शब्द का तात्पर्य निर्जन से है— ऐसा स्थान जहाँ हमें कोई विघ्न नहीं पहुँचायेगा। यदि 'वन' सबके लिये सुलभ न हो — जैसे, नदी का तट, तालाब का किनारा, गाँव या शहर के बाहर कोई मन्दिर या अन्य सुरम्य, विजन स्थान — तो घर के कोने में ध्यान किया जा सकता है। घर का कोना एक ऐसे स्थान की सूचना देता है जहाँ आवाज और हलचल सबसे कम हो। श्रीरामकृष्ण कहते थे — दही जमाने के लिए दूध में जामन डाला जाता है और दूध को एकान्त में रख दिया जाता है। हिलाने डुलाने से दही अच्छा नहीं जमता। उसी प्रकार साधक को भी एकांत में हरि-नाम का जामन लेकर चुपचाप बैठ जाना पड़ता है।

'मन में' का मतलब है —प्रदर्शन का अभाव। श्रीरामकृष्ण कहते थे — ऐसा साधक मच्छरदानी के अन्दर बैठकर ध्यान करता है ताकि कोई उसे ध्यान करते देख न ले। लोग सोचते हैं कि वह सो रहा है; पर वह सोता नहीं बल्कि ध्यान का अभ्यास करता है।

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण अपने उपर्युक्त कथन के द्वारा हमें दोनों प्रकार की बाधाओं से बचने का मार्ग बताते हैं। पहली बाधा हमारी अपनी बनायी हुई होती है और दूसरी बाधा बाहर की परिस्थितियों द्वारा हम पर थोपी जाती है। 'मन में ध्यान' हमें प्रथम बाधा से बचाता है और 'वन में तथा कोने में ध्यान' दूसरी बाधा से हमारी रक्षा करता है।

ठोकर लगे और दर्द हो तभी मैं सीख पाता हूँ।

— महात्मा गाँधी

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर से ३० नवम्बर तक)

इस अवधि में स्वामी आत्मानन्द रायपुर से बाहर ही रहे, अतः रविवासरीय उपनिषद्-प्रवचनमाला बन्द रही। साप्ताहिक सत्संग के रूप में ५ और १२ सितम्बर को श्री प्रेमचंदजी जैन ने रामायण पर रोचक प्रवचन किया।

१ सितम्बर को स्वामीजी ने गीता समिति, भोपाल के तत्त्वावधान में स्थानीय गीता भवन में 'विज्ञान, प्रजातंत्र और धर्म' पर विचारप्रवण भाषण दिया। विज्ञान और प्रजातत्र के मूल तत्त्वों का विवेचन करते हुए उन्होंने धर्म की भूमिका की युक्तियुक्त व्याख्या की और कहा कि विज्ञान और प्रजातंत्र मानव जीवन को सुषमा प्रदान करते हैं तथा धर्म इस सुषमा को स्थायी बनाना चाहता है।

२ सितन्बर की सुबह भोपाल के सिन्धी कालोनी स्थित प्राथमिक-शाला का उद्घाटन करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने पारस्परिक सहयोग की महत्ता पर बल दिया। उसी दिन सन्ध्या स्वामी विवेकानन्द शिला स्मारक समिति, भोपाल शाखा की ओर से आयोजित कार्यक्रम में प्रमुख अतिथि के रूप से विवेकानन्द के सन्देश पर चर्चा करते हुए स्वामीजी ने भारतीय नवजागरण के सन्दर्भ में कन्याकुमारी स्थित विवेकानन्द-शिला के अवदान का विस्तार से विवेचन किया और लोगों से इस स्मारक को पूरा करने के लिए हार्दिक सहयोग देने का अनुरोध किया।

३ सितन्बर को स्वामीजी ने इन्दौर स्थित रामकृष्ण आश्रम में 'कर्मका रहस्य' इस विषय पर सारगर्भित व्याख्यान दिया। ४ सितम्बर को शाजापुर में उन्होंने विज्ञान के युग में धर्म के भविष्य पर चर्चा की। इस सभा की अध्यक्षता स्थानीय शासकीय महाविद्यालय के प्राचार्य श्री वाजपेयी ने की।

१३ सितम्बर को स्वामी आत्मानन्द आमंत्रित होकर बम्बई पहुँचे। वहाँ उन्होंने भारतीय विद्याभवन में १३ से २६ सितम्बर तक प्रतिदिन सुबह 'कठोपनिषद्' पर व्याख्यान दिये तथा प्रतिदिन सायं माधवबाग स्थित विख्यात लक्ष्मीनारायण मन्दिर में 'नारद-भक्तिसूत्र' पर प्रवचन किया। दोनों ही स्थानों पर जिज्ञासुओं और साधकों ने बड़ी संख्या में इन प्रवचनों का लाभ उठाया। इस बीच अन्य स्थानों में भी स्वामीजी को लोगों के स्नेहपूर्ण आग्रह पर जाना पड़ा। १८ सितम्बर को के० सी० कालेज, बम्बई के विद्यार्थियों और शिक्षकों के समक्ष स्वामीजी ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से 'विद्यार्थी-समाज और आध्यात्मिक मूल्य' पर भाषण दिया। उसी दिन अपराह्न में जुहू स्थित साधना स्कूल ऑफ रिसर्च एंड ट्रेनिंग में 'शिक्षा का अर्थ' विषय पर उन्होंने एक मौलिक चर्चा की। इस चर्चा से प्रभावित होकर उक्त संस्था के छात्र-छात्राएँ लगभग १॥ घंटे तक स्वामीजी से प्रश्न पूछते रहे जिनका समुचित और संतोषजनक उत्तर उन्हें प्राप्त हुआ। २० सितम्बर को उन्होंने एन० डी० कालेज ऑफ साइंस में 'गीता और वर्तमान परिस्थिति' पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि किस प्रकार गीता के उपदेश सनातन हैं और आज की परिस्थिति में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। २३ सितम्बर को उन्हें थाना के भारतीय तत्त्वज्ञान मंदिर में आमंत्रित किया गया, जहाँ उन्होंने विद्यार्थियों को प्रेरणादायक शब्दों में सम्बोधित किया।

२६ सितम्बर को सुबह ९-३० बजे भारत साधु समाज, बम्बई शाखा ने एक वृहत् सभा का आयोजन किया जिसमें सभी धर्मों के आचार्य निमंत्रित थे। स्वामी आत्मानन्द ने इस सभा की अध्यक्षता की। इस अवसर पर जमैयतुल्लेमा-ए के अध्यक्ष मौलाना हमीदुल अंसारी, फादर विलियम्स, मांसिनयॉर एरीज फर्नारिडज, काजी श्री मासूम अली साहब, प्रान्तीय कांग्रेस के उपाध्यक्ष श्री हाफिजका

साहब, स्वामी स्वतंत्रानन्दजी, प्रसिद्ध उद्योगपति श्री हरिकिशनदासजी अग्रवाल, श्रीमती हेमलता खटाऊ, बौद्धभिक्षु श्री धर्मानन्दजी, जैनमुनि श्री चित्रभानुजी, ज्ञानी श्री प्रतापसिंहजी, रामकृष्ण मिशन के स्वामी अजयानन्दजी, महाराष्ट्र के उपशिक्षामंत्री डा० कैलाश तथा बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदासजी पकवासा ने पाकिस्तान-आक्रमण की कड़ी निन्दा करते हुए यह प्रस्ताव पास किया कि पाकिस्तान ने काश्मीर में गुप्त रूप से अपनी सशस्त्र फौजें भेजकर बहुत ही नापाक काम किया है। इतना ही नहीं, उसने भारत के मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों, अस्पतालों, स्कूलों इत्यादि पवित्र स्थानों पर जान-बूझकर बम फेंके। पाकिस्तान की ये सभी नापाक हरकतें बहुत ही जघन्य कार्य हैं जिनकी सभा ने सख्त भर्त्सना की।

स्वामी आत्मानन्द ने इस सभा के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए देश के सुयोग्य नेतृत्व और जवानों के जौहर की बड़ी सराहना की। उन्होंने बतलाया कि भारत ने जहाँ एक ओर शान्ति का पाठ पढ़ाया है, वहाँ दूसरी ओर उसने शूरता की भी शिक्षा दी है। दुर्बल और शक्तिहीन राष्ट्र कभी शान्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। यथार्थ शान्ति का अधिकारी वह होता है जो आवश्यकता पड़ने पर शौर्य का प्रदर्शन करके आततायियों को मुँहतोड़ उत्तर देता है। हमारे जवानों ने अपने पराक्रम से यह सिद्ध कर दिया है कि भारत अजेय है और वही विश्व को शान्ति का पाठ पढ़ा सकता है।

भारत शासन के फिल्म्स डिवीज़न ने इस कार्यक्रम की डाक्यूमेंटरी भी तैयार की।

२७ सितम्बर को स्वामीजी अकोला पधारे और अपराह्न में सीताबाई कला महाविद्यालय के विद्यार्थी संघ का उद्घाटन किया। उसी सन्ध्या उन्होंने दुर्गा पूजा समिति के तत्त्वावधान में आयोजित सभा को ओजस्वी वाणी में सम्बोधित करते हुए 'आधुनिक युग और

धर्म’ पर प्रेरक विचार प्रकट किये। ९ अक्तूबर को अकलतरा में ‘शक्तितत्त्व’ पर तथा २ को लिमहा में ‘गीता और वेदान्त का व्यावहारिक रूप’ पर उन्होंने भाषण दिये। ३ अक्तूबर को बिलासपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विजयादशमी उत्सव की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने हिन्दू संस्कृति के मूल तत्त्वों पर विचारपूर्ण प्रकाश डाला।

१० अक्तूबर को स्वामी आत्मानन्द उज्जैन आये और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विजयादशमी उत्सव का सभापतित्व किया। अध्यक्ष पद से विशाल जनसमूह को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने बताया कि हिन्दू भीरु और कायर नहीं है, वह दयालु और करुणावान् है। पर वह आवश्यकता से अधिक नरम है। उसे कठोर भी होना है। कठोरता और करुणा का समुचित संतुलन उसे रखना है। जहाँ राष्ट्र पर विपत्ति के दुर्दिन हों, तब कठोरता से ही उन्हें लाँघा जा सकता है। स्वामीजी ने उपस्थित जनसमूह को उस अतीत का स्मरण दिलाया जब भारत भौतिकता और आध्यात्मिकता के सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण उन्नति किये हुए था। अधिक नरमाई भारत के पतन का कारण बनी। बिदेशी आक्रमणकारियों ने इसे हमारी दुर्बलता माना और वे हम पर पाशविक अत्याचार करते रहे। अब वह दिन आ गया है जब हम अपने अतीत के इस कलंक को पोछ डालें और एक ऐसे सबल राष्ट्र का निर्माण करें जो शस्त्र और शास्त्र का सन्तुलन रख सके।

११ और १४ अक्तूबर को स्वामीजी ने इन्दौर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में ‘भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द’ पर व्याख्यान दिये। १२ को वे झाबुआ गये, जहाँ योजना एवं विकास मंत्री, माननीय मिश्रीलालजी गंगवाल द्वारा पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के उद्घाटन-समारोह की उन्होंने अध्यक्षता की। १८ अक्तूबर को स्वामीजी जबलपुर में थे। जबलपुर नगर निगम द्वारा आयोजित

कार्यक्रम में रामकृष्ण मिशन इंस्टीच्यूट आफ कल्चर के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज प्रमुख अतिथि के रूप से आमंत्रित थे। महापौर डा० बराट ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। 'बदलते समाज में धर्म का रूप' इस विषय पर स्वामी रंगनाथानन्दजी ने अँगरेजी में तथा स्वामी आत्मानन्द ने हिन्दी में अपने विचार प्रकट किये।

३१ अक्तूबर को दिल्ली में होनेवाले अखिल भारतीय वेदान्त सम्मेलन में आमंत्रित होकर स्वामी आत्मानन्द ने 'वेदान्त का व्यावहारिक स्वरूप' इस विषय पर सुन्दर, मननीय व्याख्यान दिया। ४ नवम्बर को स्वामीजी मुंगेर गये जहाँ उन्होंने बिहार स्कूल ऑफ योग द्वारा आयोजित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन में 'गीता का कर्मठ योग' विषय पर अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया। स्वामीजी ने बतलाया कि अन्य योगों की साधना दिन में केवल कुछ ही समय के लिए की जा सकती है, पर यह कर्मठ योग ऐसा है जिसकी साधना मनुष्य दिन के चौबीसों घण्टे कर सकता है।

३० नवम्बर को स्वामीजी जबलपुर गये जहाँ उन्हें संत तारण तरण जयन्ती के अवसर पर आयोजित सर्व धर्म सम्मेलन में प्रमुख अतिथि के रूप से आमंत्रित किया गया था। स्वामीजी ने सुन्दर उदाहरणों के द्वारा अपने सारगर्भित भाषण में बतलाया कि धर्मों का झगड़ा इसलिए होता है कि लोग धर्म के रास्ते पर आगे नहीं बढ़ते। जो सचमुच धर्म का अनुसरण करते हैं, अपने अपने धर्म में बतलाये गये सद्गुणों को आचरण में उतारते हैं, वे एक दूसरे से नहीं झगड़ते, क्योंकि उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि सारे धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों और वाक्य-विन्यासों के माध्यम से उसी एक अन्तिम सत्य की बात कहते हैं।

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक व्यौरा

१. प्रकाशन-स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता— त्रैमासिक

३. मुद्रक का नाम — बाबू गोपालदास

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — श्रीविश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी-१.

४. प्रकाशक का नाम — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

५. सम्पादक का नाम — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी — स्वामी आत्मानन्द

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।